पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ४६

संपादक
डॉ० सागरमल जैन

चार तीर्थङ्कर

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

–पं० सुखलाल संघवी

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ४६
(सन्मति साहित्य का प्रथम पुष्प)

सम्पादक
डॉ. सागरमल जैन

चार तीर्थंकर

(ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर)

लेखक
पं० सुखलाल संघवी

सम्पादन एवं संकलन
पं० दलसुखभाई मालवणिया

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–२२१००५

© प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई०टी०आई० रोड
वाराणसी-५

दूरभाष : ६६७६२

द्वितीय संस्करण १९८९

मूल्य : रु० ३० = ००

Char Tirthankara
By Pt. Sukhalal Sanghavi

Price Rs. 25 = 00
Second Edition 1989

मुद्रक :
विवेक प्रिन्टर्स
बी ३०/१९५ गंगा तरंग, नगवां
वाराणसी-५

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—भगवान् ऋषभदेव और उनका परिवार	१—२८
२—भगवान् नेमिनाथ और कृष्ण	२९—३३
३—दीर्घतपस्वी महावीर	३४—४३
४—धर्मवीर महावीर और कर्मवीर कृष्ण	४४—८४
५—भगवान् महावीर के जीवन की विविध भूमिकाएँ	८५—९४
६—भगवान् महावीर का जीवन : एक ऐतिहासिक दृष्टिपात	९५—११३
७—भगवान महावीर की मंगल विरासत	११४—१२२
८—भगवान् पार्श्वनाथ की विरासत	१२३—१४४
९—परिशिष्ट	१४५—१४९

निवेदन

(प्रथम संस्करण)

पूज्य पंडित श्री सुखलालजी के लेखों का प्रथम संग्रह 'धर्म और समाज' के नाम से प्रकाशित हो गया है। भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन चार प्रसिद्ध जैन तीर्थंकरों के विषय में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से पूज्य पंडित जी ने अभी तक जो व्याख्यान या लेख रूप में लिखा है उनमें से चुनकर यह पुस्तक 'चार तीर्थंकर' नाम से प्रकाशित की जा रही है। पंडितजी की असांप्रदायिक और विचारप्रेरक दृष्टि की छाप वाचक को प्रत्येक पंक्ति में मिलेगी। अभी तक तीर्थंकरों के विषय में वाचक ने जो सोचा होगा उसमें परिमार्जन का नया रास्ता इन लेखों में से वह पाएगा ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत संग्रह में से प्रथम और चतुर्थ का हिन्दी अनुवाद करने के लिए श्री भँवरमलजी सिंघी और पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का तथा मूल गुजराती-हिन्दी लेखों व व्याख्यानों के प्रकाशकों का मैं आभारी हूँ। भगवान् पार्श्वनाथ विषयक लेख पंडितजी ने अभी हाल में ही लिखा है और वह आगामी ओरिएन्टल कॉन्फरेंस के अहमदाबाद के अधिवेशन में पढ़ा जायेगा।

संग्रह छापने की अनुमति के लिए मैं पंडित जी का आभारी हूं—

दलसुख मालवणिया

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवी के चार तीर्थङ्करों—भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर पर आधारित गुजराती-हिन्दी लेखों एवं व्याख्यानों के हिन्दी अनुवाद के संग्रह का प्रकाशन आज से लगभग छब्बीस वर्ष पूर्व जैन संस्कृति संशोधन मंडल वाराणसी द्वारा किया गया था। यद्यपि यह ग्रन्थ लघुकाय ही है किन्तु इसमें पं० सुखलालजी की जिस गवेषणात्मक और स्वतंत्र विचार दृष्टि का जो परिचय मिलता है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन लेखों में तुलनात्मक दृष्टि से भी उन्होंने काफी कुछ प्रकाश डाला है। वर्षों से यह ग्रन्थ पाठकों के लिये अनुपलब्ध था। चूंकि जैन संस्कृति संशोधन मंडल अब पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान में समाहित हो चुका है इसलिये विद्याश्रम का यह दायित्व बनता है कि वह इस अनुपलब्ध किन्तु महत्त्वपूर्ण कृति को पुनः प्रकाशित करे।

दो वर्ष पूर्व विद्याश्रम ने अपने पूर्व व्यवस्थापक तथा पं० सुखलाल जी संघवी के अनन्य भक्त श्री शांतिभाई वनमाली सेठ का अभिनन्दन किया और उस अवसर पर जो धन संग्रह हुआ था, उससे लोकोपयोगी सन्मति साहित्य ग्रन्थमाला चलाने का निश्चय किया गया था, उसी के प्रथम पुष्प के रूप में हम इस कृति का पुनः प्रकाशन कर रहे हैं। पं० सुखलालजी की बहुश्रुतप्रज्ञा से निःसृत इस ग्रन्थ की मूल्यवत्ता के सम्बन्ध में लिखना अनावश्यक ही होगा, पाठकगण इसका पारायण कर स्वयं ही इसके महत्त्व एवं मूल्य को जान लेंगे। आज इसे पुनः पाठकों को उपलब्ध कराते हुए हम अत्यन्त संतोष का अनुभव कर रहे हैं। यदि इस प्रकार के ग्रन्थों में पाठकों ने रुचि प्रदर्शित की तो हम ऐसे अन्य भी लोकोपयोगी ग्रन्थों को प्रकाशित करते रहेंगे।

इस ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन की समुचित व्यवस्था हेतु मैं डा० सागरमल जैन का आभारी हूँ। इसके प्रूफ संशोधन के लिए संस्थान के शोध अध्येता डा० शिवप्रसाद, डा० अशोक कुमार सिंह एवं प्रेस सहायक श्री महेश कुमार जी धन्यवाद के पात्र हैं। इसके मुद्रण के लिए मैं विवेक प्रिंटर्स को धन्यवाद देता हूँ।

मंत्री :
भूपेन्द्रनाथ जैन
मई १९८९

भगवान् ऋषभदेव और उनका परिवार

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के विषय में तो इतिहास की गति स्पष्ट है। भगवान् नेमिनाथ तक भी इतिहास की कुछ किरणें पहुँची हैं, किन्तु भगवान् ऋषभदेव के बारे में बात इससे बिल्कुल उल्टी है। ऋषभदेव का काल जैन शास्त्रों की मान्यता के अनुसार लाखों और करोड़ों वर्ष पहले का काल है। उस समय के इतिहास की बातें आज मिलें, यह सम्भव भी नहीं है। उस अति प्राचीन समय के पुरुष के विषय में हम जो कुछ भी पढ़ते हैं, सुनते हैं और विचार करते हैं वह सब जनश्रुति और कुछ शास्त्र-परंपरा के आधार पर रचे हुए चरित्रग्रंथों में से ही। इन चरित्रग्रंथों में ऐतिहासिक काल के पहले के व्यक्तियों के विषय में लिखा हुआ सब कुछ अप्रामाणिक और त्याज्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता, उसी तरह यह भी नहीं माना जा सकता कि वे सभी अक्षरशः सत्य हैं। ऐसी अनिश्चित स्थिति होते हुए भी मैं भगवान् ऋषभदेव जैसे अति प्राचीन पुरुष और उनके परिवार के बारे में कुछ लिखना चाहता हूँ—सो किन्हीं खास दृष्टि-बिन्दुओं को लेकर।

दृष्टिबिन्दु—

पहला दृष्टिबिन्दु तो यह है कि ऋषभदेव और अन्य तीर्थंकरों की पूजा-प्रतिष्ठा और उपासना के क्षेत्र में क्या अन्तर है, यह बतलाना और उसके द्वारा अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा ऋषभदेव का स्थान कितना व्यापक है और यह किसलिए, यह सूचित करना। मेरा दूसरा और मुख्य दृष्टिबिन्दु यह है कि भूतकाल का वर्तमान काल के साथ सम्बन्ध बाँधना और भविष्य के निर्माण में उसका विवेकपूर्वक उपयोग करना। इसी बात को कुछ अधिक स्पष्ट प्रचलित रीति से बतलाना हो तो यह भी कहा जा सकता है कि

परंपरा या समाज के मानस में श्रद्धा का स्थान पाये हुये किसी प्राचीन या अतिप्राचीन महापुरुष के जीवनचरित्र के आसपास कालक्रम से और श्रद्धा के कारण जो अनेक कल्पनाओं के ताने-बाने हों और उनमें विविध रंग भरे हों, उनकी वास्तविकता की दृष्टि से छानबीन करके उसमें से एक सामान्य ऐतिहासिक सत्य निकालना और उस सत्य का वर्तमान जीवन के जटिल प्रश्नों के सुलझाने में तथा भावी जीवन के निर्माण में उपयोग करना।

ऋषभदेव सिर्फ जैनों के ही नहीं हैं !

साधारण तौर पर जैन तथा जैनेतर दोनों समाजों में और कुछ अंश तक पढ़े-लिखे विद्वत् वर्ग में भी ऐसी मान्यता प्रचलित है कि ऋषभदेव केवल जैनों के ही उपास्यदेव तथा अवतारी पुरुष हैं। अधिकांश जैन यही समझते हैं कि जैन परंपरा के बाहर ऋषभदेव का स्थान नहीं है और वे जैन मन्दिर, जैन तीर्थ तथा जैन उपासना में ही प्रतिष्ठित हैं। लगभग सभी जैनेतर भी ऋषभदेव को केवल जैनों के ही उपास्यदेव समझ कर यह विचार करना भूल गये हैं कि ऋषभदेव का स्थान जैनेतर परंपरा में है या नहीं और अगर है तो कहाँ और कैसा ?

जैन या जैनेतर दोनों वर्गों के लोगों का ऊपर बतलाया हुआ भ्रम दूर करने के लिए हमारे पास कितने ही प्रमाण हैं जो शास्त्रबद्ध भी हैं और व्यवहारसिद्ध भी। जैन तीर्थ, मन्दिर और गृहचैत्यों में प्रतिष्ठित ऋषभदेव की मूर्ति, उनकी प्रतिदिन होने वाली पूजा, आबाल-वृद्ध जैनों में गाया और पढ़ा जाने वाला ऋषभचरित्र और तपस्वी जैन स्त्री-पुरुषों द्वारा अनुकरण किया जाने वाला ऋषभदेव का वार्षिक तप—यह सब जैन-परंपरा में ऋषभदेव के प्रति उपास्यदेव जैसी श्रद्धा और ख्याति के गहरे मूल को तो सूचित करते ही हैं, पर ऋषभदेव की उपासना और ख्याति जैनेतर-परंपरा के अति प्रतिष्ठित और विशिष्ट माने जाने वाले साहित्य में और उसी तरह छोटे से छोटे फिरके तक में मौजूद है।

भागवत में ऋषभदेव—

ब्राह्मण-परंपरा और उसमें भी खासकर वैष्णव-परंपरा का बहुमान्य और सर्वत्र अतिप्रसिद्ध ग्रंथ भागवत है जिसे भागवत पुराण

भी कहते हैं। यह ग्रंथ आठवीं शताब्दी के बाद का तो नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों में ऋषभदेव का जो संस्कृत भाषा में लिखा हुआ चरित्र है वह भागवत से प्राचीन नहीं है; भागवत के पीछे का ही है। हाँ! जैन परंपरा में खास कर श्वेताम्बर परंपरा में ऋषभदेव का प्राकृत भाषा में लिखा हुआ चरित्र भागवत के ऋषभचरित्र के अपेक्षा भी प्राचीन होने के विषय में कदाचित् ही सन्देह है। भागवत में जो ऋषभचरित्र का वर्णन है और वह जिस तरह जैन ग्रन्थों के ऋषभचरित्र के साथ मेल खाता है उस पर से पहले पहल देखने वाले को ऐसा प्रतीत होगा कि जन-समाज में बहुमान की जड़ गहरी जमने के बाद ही जैन कथानक-ग्रंथों में से भागवत के कर्त्ता ने ऋषभदेव को अपने ग्रंथ में अपनाया होगा[1], जिस तरह शुरू में त्याज्य गिने जाने वाले बुद्ध का भी उनकी लोक-प्रतिष्ठा जम जाने के बाद पीछे से कितने ही पुराणकारों ने अवतारी पुरुष के रूप में उल्लेख किया

सारी आर्य जाति के उपास्य ऋषभदेव—

पर मुझे तो ऐसा लगता है कि वास्तविक हकीकत कुछ दूसरी ही है। भागवतकार के समय ऋषभदेव की अपेक्षा पार्श्वनाथ या महावीर की प्रतिष्ठा, ख्याति या उपासना जरा भी कम नहीं थी। शायद जैन-परंपरा में पार्श्वनाथ या महावीर का स्थान उस समय भी आसन्न उपकारक होने से अधिक आकर्षक था। ऐसा होते हुए भी भागवतकार सिर्फ ऋषभ का ही चरित्र ले और वर्णन करे, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ या महावीर के चरित्र को अन्य पुराणकारों की तरह भागवतकार स्पर्श न करे, इसका कोई कारण होना चाहिये। वह कारण मेरी दृष्टि में यह है कि ऋषभदेव की मान्यता, पूजा, उपासना की यशोगाथा जैन परंपरा की तरह जैनेतर परंपरा में भी शुरू से ही कम-ज्यादा अंश में एक अथवा दूसरी तरह अवश्य चालू थी। इसी लिए यह भी संभव है कि जिन संस्कृत या प्राकृत ब्राह्मण पुराणों के आधार पर भागवत की नये सिरे से रचना किये जाने का ऐतिहासिक मत है उन प्राचीन संस्कृत, प्राकृत पुराणों में

1. श्रीमद्‌भागवत पंचमस्कंध।

ऋषभदेव के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ अवश्य लिखा होगा, जो वर्तमान भागवत में भी लिखा गया है। सारी आर्यजाति में समान रीति से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता बहुत प्राचीन काल से चली आती हुई लगती है।[1] बौद्ध-परंपरा में बुद्ध को और ब्राह्मण-परंपरा में राम, वासुदेव, कृष्ण और महादेव को आज तक इतनी प्रतिष्ठा मिलती गई जिसके कारण बौद्ध-परंपरा के साहित्य में तो ऋषभ का नाम आने ही नहीं पाया और ब्राह्मण-परंपरा के भागवत जैसे ग्रंथ में ऋषभ का चरित्र पुराने रूप में आया तो सही परन्तु वह भागवत के अवतार वासुदेव में गौण होकर उसके नीचे दब गया। मगर जैन-साहित्य में और जैन-परंपरा में ऐसा नहीं हुआ। पार्श्वनाथ और महावीर की जाहोजलाली वाले प्राचीन, मध्य और वर्तमान युग में भी इन पुरातन पुरुष ऋषभ की प्रतिष्ठा और उपासना समानरूप से अखण्डित रही है। इन्हीं कारणों को लेकर जैन और जैनेतर वर्ग में ऋषभ की सिर्फ जैनदेव के रूप में मान्यता का भ्रम चलता आया। ठीक-ठीक देखने पर यह महान् पुरातन पुरुष चिरकाल से चली आती हुई सारी आर्य प्रजा का सामान्य देव है, इस विषय में मुझे लेश मात्र भी शंका नहीं है। मेरी इस धारणा की पुष्टि नीचे की दो बातों से होती है।

ऋषिपञ्चमी ऋषभपञ्चमी ही होनी चाहिए—

पहली बात ऋषिपञ्चमी के पर्व से और दूसरी बात जैनेतर वर्ग में ऋषभ की उपासना से सम्बद्ध है। भाद्रपद शुक्ला पंचमी ऋषि-

1. "Lt. Col. Wilford has pointed out (Asiatic Researches, Vol. III pp 295–488) the ancient communication of old India with Egypt and he has explained the urgent need of examining the ancient Hindu Geographical texts in the light of the new discoveries. In fact, his forecasts have come true. In Cyprus excavations a bronze statue of the Pauranic king Rishabhadeva (about 1250 B. C.) was found." (Illustrated London News, 27th August, 1949, pp. 316–17). 'The Hittite and the Mittani were definitely Aryan Kingdoms.'

पञ्चमी के नाम से जैनेतर वर्ग में सर्वत्र मानी जाती है। यही पञ्चमी जैन-परंपरा में सांवत्सरिक पर्व के रूप में मानी जाती है। जैन-परंपरा में सांवत्सरिक पर्व दूसरे सब पर्वों की अपेक्षा ऊँचा है और आध्यात्मिक होने से पर्वाधिराज माना जाता है। यही पर्व वैदिक और ब्राह्मण-परंपरा में ऋषिपञ्चमी के पर्व के रूप में माना जाता है। यह पञ्चमी वैदिक-परंपरा के किसी ऋषि के स्मारक के रूप में मानी जाती हो, ऐसा मेरे जानने में नहीं आया। दूसरी तरफ जैन लोग पञ्चमी को सांवत्सरिक पर्व समझ कर उसे महान् पर्व का नाम देते हैं और उस दिन सर्वोत्तम आध्यात्मिक जीवन बिताने को यत्नशील रहते हैं। मुझे लगता है कि जैन और वैदिक-परंपरा में भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध, इन दोनों पर्वों को एक ही दिन भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी को मानने की प्रथा किसी समान तत्त्व को लेकर है और वह तत्त्व मेरी दृष्टि में ऋषभदेव के स्मरण का है। एक अथवा दूसरे कारण से आर्यजाति में ऋषभदेव का स्मरण चला आता था और उसके निमित्त से भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी पर्व रूप में मानी जाती थी। आगे जाकर जब जैन-परंपरा निवृत्ति मार्ग की प्रधानता की ओर मुड़ी तब उसने इस पञ्चमी को आध्यात्मिक शुद्धि का रूप देने के लिए इस पर्व को सांवत्सरिक पर्व के रूप में मनाना शुरू किया; जब कि वैदिक-परंपरा के अनुयायियों ने पूर्व परंपरा से चली आती हुई सामान्य भूमिका के अनुसार ही इस पञ्चमी को ऋषि पञ्चमी के रूप में मनाने का रिवाज चालू रखा। सचमुच ऋषिपञ्चमी नाम में ही ऋषभ की ध्वनि समाई हुई है। ऋषभपञ्चमी ही शुद्ध नाम होना चाहिये और उसी का कुछ अपभ्रंश हुआ नाम ऋषिपञ्चमी है। अगर यह कल्पना ठीक हो तो जैन और जैनेतर दोनों वर्गों में प्राचीन काल से चली आती हुई ऋषभदेव की मान्यता की पुष्टि होती है।

अवधूत पंथ में ऋषभ की उपासना—

दूसरी और खास महत्त्व की बात उपासना के विषय की है। बंगाल जैसे किसी प्रांत में कुछ लोग हैं, चाहे उनकी संख्या अधिक न हो अथवा वे विख्यात न हों, जिनका ऋषभ की उपासना में विश्वास है, और जो ऋषभ को एक अवधूत एवं परम त्यागी योगी समझ कर

उनके द्वारा प्रतिपादित किये हुये कठिन व्रतों का पालन भी करते हैं। एक बार अहमदाबाद में सन् १९२६-२७ में मुझे एक बंगाली गृहस्थ मिले थे, जो बी. ए., एल. एल. बी. थे और बहुत समझदार थे। उन्होंने मुझे अपनी खुद की और अपने पंथ की उपासना के विषय में बात करते हुए कहा कि वे दत्त आदि अवधूतों को मानते हैं। लेकिन इन सब अवधूतों में ऋषभदेव उनके मत में मुख्य और आदि हैं। उन्होंने यह भी कहा कि उनके पंथ में आगे बढ़ने वाले गृहस्थ या योगी के लिए ऋषभदेव के जीवन का अनुकरण करना आदर्श गिना जाता है। इस अनुकरण में अनेक प्रकार के तप आदि के बाद शरीर के ऊपर निर्मोहता सिद्ध करने का भी आदर्श है। वह यहाँ तक कि शरीर में कीड़ा पड़ जाये तो भी साधक उसे फेंकता नहीं, बल्कि कीड़ों को शरीर अर्पण करते हुये उसे विशेष आनन्द होता है। उन बंगाली गृहस्थ की इन बातों ने मेरा ध्यान खींचा और मुझे तुरन्त लगा कि अगर ऋषभदेव सिर्फ जैनों के ही देव और उपास्य होते तो वे पार्श्वनाथ और महावीर के बाद जैनेतर-परम्परा में कभी उपास्य का स्थान नहीं पाते। भगवान् महावीर का उग्र तप और देहदमन प्रसिद्ध ही है। उसका अनुकरण कहीं भी जैनेतर वर्ग में नहीं हो रहा है और ऋषभदेव का अनुकरण कहीं तो दिखाई देता है। इससे यह मालूम होता है कि ऋषभदेव प्राचीन काल से ही आर्यजाति के सामान्य उपास्य देव रहे होंगे। भागवत का वर्णन इसी दृष्टि की पुष्टि करता है।

मूल में जैन धर्म का स्वरूप कैसा था ?

यह तो हम ऊपर देख ही चुके हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के समान कठोर तपस्वी और निकटवर्ती जैन तीर्थङ्करों की अपेक्षा अति प्राचीन ऋषभदेव का प्रतिष्ठाक्षेत्र कितना व्यापक है। परन्तु यहीं प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस फर्क का कारण क्या है? यह प्रश्न हमको इस बात का विचार करने को प्रेरित करता है कि जैनधर्म का असली स्वरूप कैसा था और वर्तमान जैन धर्म तथा जैन संस्कृति और जैन भावना के प्राचीन मूल्य कैसे थे?

भारतवर्ष में प्रचलित प्राचीन धर्मों के दो विभाग किये जा सकते हैं—प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म। प्रवृत्तिधर्म अर्थात् चतुराश्रमधर्म

और निवृत्तिधर्म अर्थात् एकाश्रम धर्म। निवृत्तिधर्म में केवल एक संन्यास की मान्यता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम का स्थान ही नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना ही समझना चाहिए कि निवृत्तिधर्म में जाति, आयु इत्यदि का विशेष विचार नहीं करके चाहे जिस जाति और चाहे जिस उम्र के स्त्री-पुरुष हों, सबके लिए समानरूप से त्याग और संन्यास का उपदेश दिया जाता है। इस धर्म के अनुसार औत्सर्गिक जीवन त्याग का ही माना जाने के कारण जो कोई गृहस्थाश्रम में पड़े अथवा सांसारिक प्रवृत्ति को स्वीकार करे तो अपवाद रूप में ही स्वीकार करे। उसका यह स्वीकार निवृत्तिधर्म के हिसाब से सिर्फ लाचारी गिनी जायेगी जीवन में क्रमप्राप्त आवश्यक धर्म नहीं। इसके विपरीत चतुराश्रम धर्म में उम्र के क्रम से ही प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वीकार करने का मौका आता है। ब्रह्मचर्याश्रम का उल्लंघन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना या ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में गये बिना ही संन्यासमार्ग में जाना प्रवृत्तिधर्म में वर्ज्य और अधर्म्य समझा जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में से—बाल अथवा कौमार्य अवस्था में से—कोई सीधा संन्यास मार्ग ले तो वह निवृत्तिधर्म के अनुसार स्वाभाविक ही समझा जायगा क्योंकि वह क्रम वर्ज्य नहीं है बल्कि वही क्रम मुख्य रूप से धर्म्य समझा जाता है, जब कि प्रवृत्तिधर्म के हिसाब से यह क्रम बिल्कुल वर्ज्य और अधर्म्य है। प्रवृत्तिधर्म में संन्यास को स्थान है और प्रतिष्ठित स्थान है, परन्तु यह स्थान जीवन-क्रम में अमुक वक्त पर ही आता है, चाहे जब नहीं; जब कि निवृत्तिधर्म में त्याग का स्थान और उसकी प्रतिष्ठा समग्र जीवनव्यापी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों धर्मों के उक्त दृष्टिबिन्दु एक दूसरे के विरोधी होने के कारण उनके परिणाम भी समाज पर अलग-अलग अंकित हुये हैं, और आज भी अलग-अलग ही दिखलाई देते हैं।

जैन हो अथवा जैनेतर, कोई भी विचारक गत दो-तीन हजार वर्ष का कोई जैन-साहित्य, जैन-जीवन अथवा जैन मानस का अवलोकन करेगा तो उसको यह निःसन्देह मालूम होगा कि जैनधर्म की परम्परा निवृत्तिधर्म की एक खास परम्परा है। अब प्रश्न यह होता है कि जैनधर्म का जो निवृत्तिप्रधान स्वरूप दिखाई देता अथवा

माना जाता है, वह सारे जीवन या सामाजिक जीवन की दृष्टि से बराबर और योग्य है ? और अति प्राचीन काल में जो जैन धर्म का प्रवाह किसी तरह से बहता था, उसका स्वरूप क्या ऐसा ही था अथवा इससे जुदा था ? अगर जैनधर्म का निवृत्तिप्रधान दिखाई देने वाला स्वरूप ही धर्म का स्वाभाविक और असली स्वरूप है तो इस पर से अपने आप यह फलित होता है कि धर्म का प्रवृत्तिप्रधान स्वरूप स्वाभाविक नहीं है। वह तो विकृति अथवा सामाजिक जीवन में अपवादमात्र है। इस पर से यह भी फलित होता है कि प्रवृत्तिप्रधान स्वरूप को धर्म में पीछे से प्रतिष्ठा का स्थान मिला है। असल में तो धर्म का स्वरूप निवृत्तिप्रधान ही था।

प्रवृत्तिधर्म ही जैनधर्म के मूल में है—

विचार करने पर उक्त प्रश्न के उत्तर में मुझे यही मानना ज्यादा वाजिब और संगत लगता है कि व्यक्तिगत और सामाजिक समग्र जीवन के साथ बराबर और पूरा-पूरा मेल खाने वाला धर्म का स्वरूप प्रवृत्तिप्रधान ही है निवृत्तिप्रधान नहीं। इसी तरह मुझे यह भी प्रतीत होता है कि किसी समय में जैनधर्म के मूल उद्गम में निवृत्तिप्रधान स्वरूप को स्थान नहीं मिला था, बल्कि उसमें प्रवृत्तिप्रधान स्वरूप का ही स्थान था। मेरे इस मंतव्य की पुष्टि वर्तमान जैनपरम्परा के आदि-प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव के छिन्न-भिन्न और बहुत पीछे से अर्थात् निवृत्तिप्रधान धर्म की प्रतिष्ठा होने के बाद लिखे हुए या संकलित किये हुए जीवनवृत्तान्त से भी असंदिग्ध रूप से होती है। यह जवाब अगर सच्चा है तो प्रवृत्तिप्रधान धर्म का स्वरूप विकृति है अथवा वह स्वरूप पीछे से आया हुआ है, यह मानने का कोई कारण नहीं रहता।

भगवान् महावीर ने निवृत्ति पर जोर क्यों दिया ?

हाँ, ऐसा होते हुए भी मेरे इन विचारों पर कितने ही प्रश्न-बाण छूटेंगे, यह मैं समझता हूँ। कोई अवश्य पूछ सकता है कि अगर सामाजिक जीवन की दृष्टि से प्रवृत्तिप्रधान धर्म ही संगत और स्वाभाविक है तो भगवान् महावीर वगैरह ने प्रवृत्तिधर्म पर जोर नहीं देकर निवृत्तिप्रधानता के ऊपर जोर क्यों दिया ? उसी तरह

बाद में होने वाले धुरंधर जैन आचार्यों ने भी जैन धर्म को निवृत्ति-प्रधान स्वरूप की मर्यादा में क्यों बाँध रखा ? यह और इसके जैसे दूसरे बहुत से प्रश्न उपस्थित होते हैं। लेकिन उन सबका उत्तर संक्षेप में इतना ही है कि भगवान् महावीर के पुरुषार्थ की दिशा सामाजिक जीवन के बारे में उपदेश देने अथवा उसका निर्माण करने की नहीं थी। जो सामाजिक जीवन प्रवृत्तिधर्म के ऊपर संगठित और रचा हुआ था वह तो चालू ही था। परन्तु उस धर्म के एक हिस्से के तौर पर त्यागी जीवन के स्वरूप, अधिकार या आचरण में जो विकृतियाँ, शिथिलताएँ और गलतफहमियाँ दाखिल हो गई थीं, उनका अपने वैयक्तिक आचरण से संशोधन करना महावीर का जीवन-धर्म था। अथवा यों कह दें कि जैसे कोई सुधारक पुरुष सिर्फ ब्रह्मचर्याश्रम तक का ही सुधार अपने हाथ में ले या कोई दूसरा सिर्फ गृहस्थाश्रम तक का ही सुधार अपने हाथ में ले, उसी तरह भगवान् महावीर ने त्याग-आश्रम का सुधार करने का ही काम अपने हाथ में लिया।

निवृत्तिधर्म सर्वांशी धर्म कैसे माना जाय ?

जिस तरह संसार में अकसर देखा जाता है कि किसी सुधारक अथवा महान् पुरुष की प्रवृत्ति उसके देश, काल और ऐतिहासिक परिस्थिति के अनुसार एक अंश तक ही सीमित होती है, परन्तु वही प्रवृत्ति संप्रदाय का रूप प्राप्त करके पूर्ण और सर्वांशी मानी जाने लगती है, उसी प्रकार भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों के असाधारण व्यक्तित्व की प्रतिध्वनि स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में पड़ते ही उनका त्यागी जीवनप्रधान सुधार समग्र समाज-धर्म के रूप में समझा जाने लगा और इस महान् विभूति के प्रति रही हुई असाधारण परन्तु एकदेशीय भक्ति ने बाद में आने वाले अनुगामियों को सामाजिक जीवन के अन्यान्य पहलुओं के बारे में पूर्ण रूप से एवं खुले दिल से विचार करने से रोका। भगवान् का जो जैनधर्म अत्यंत आध्यात्मिक होने के कारण से समग्र समाज के साथ पूर्ण रूप से मेल खाने वाला नहीं था और जो इस तरह से वैयक्तिक धर्म ही था, उस धर्म को सांप्रदायिक रूप मिलते ही उसका सामाजिक जीवन के साथ पूरी तरह से मेल बिठाने का प्रश्न बाद वाले अनुयायिओं और

कुल-परम्परागत जैनधर्मियों के सामने उपस्थित हुआ। धर्म के एक अंश की अथवा एक नय को पूर्ण धर्म या पूर्ण अनेकान्त मानने की भूल में से जो व्यवस्था उत्पन्न हुई वह भी भूलों से भरी हुई और बिना मेल की रही। इसीलिए पिछले दो-तीन हजार वर्ष के जैन-धर्म के निवृत्ति-प्रधान स्वरूप में सामाजिक जीवन की दृष्टि से अधूरापन और कई विकृतियाँ भी दिखलाई देती हैं।

ऋषभ का जीवन ही स्वाभाविक धर्म का प्रवर्तक है—

सारी जैन-परम्परा भगवान् ऋषभदेव को वर्तमान युग के निर्माता आदिपुरुष के रूप में जानती है। उनको वह मार्गदर्शक, कर्मयोगी एवं पूर्णपुरुष के रूप में पूजती है। भगवान् ऋषभदेव का चरित्र दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्य में अथवा ब्राह्मण साहित्य में जैसा मिलता है वह जैन-परंपरा की उक्त मान्यता की ही पूरी-पूरी पुष्टि करता है। कारण अगर भगवान् ऋषभदेव कर्मयोगी और पूर्णपुरुष हों तो उनका जीवन भी समग्र दृष्टि से अथवा सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से पूर्ण ही होना चाहिए, अन्यथा वे पूरी समाज रचना के निर्माता कहे ही नहीं जा सकते। हमने ऋषभदेव के जीवन में जो अनेक घटनाएँ सुनी हैं और जो आज तक के निवृत्ति-प्रधान जैनधर्म के स्वरूप की दृष्टि से बहुत संगत नहीं मालूम होतीं और इसीलिए जिन घटनाओं का समर्थन खींचतानपूर्वक आचार्यों को करना पड़ा है वे सारी घटनाएँ जीवन-क्रम में स्वाभाविक ही थीं और किसी भी विचारवान् समाज के जीवन में स्वाभाविक ही हो सकती हैं।

निवृत्ति की दृष्टि से ऋषभ के जीवन की असंगत घटनाएँ—

यहाँ कुछ घटनाओं का उल्लेख करके उन पर विचार करना प्रासंगिक मालूम होता है। १—भगवान् ऋषभदेव ने विवाह संबंध किया। उस वक्त की चालू प्रथाओं के हिसाब से सगी बहन सुमंगला के साथ विवाह करने के बाद दूसरी एक सुनन्दा नामक कन्या के साथ विवाह किया, जो कि अपने जन्मसिद्ध साथी की मृत्यु से हतोत्साह और चिन्तित होकर विधवा नहीं तो अनाथ तो हो ही गई थी। २—भगवान् ने प्रजा-शासन का काम हाथ में लेकर साम, दण्ड

आदि नीति को प्रवृत्त किया और लोगों को जीवन-धर्म और समाज-धर्म सिखाया। ३—जिन काम-धन्धों के बिना उस समय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन शक्य नहीं था और आज भी जो शक्य नहीं हो सकता वे सारे काम भगवान् ने लोगों को सिखाये। उस वक्त की सूझ और परिस्थिति के हिसाब से भगवान् ने लोगों को खेती द्वारा अनाज पैदा करने, अनाज पकाने, उसके लिए आवश्यकतानुसार बर्तन बनाने, रहने के लिए मकान तैयार करने, कपड़ा तैयार करने, हजामत बनाने और दूसरे जीवनोपयोगी शिल्प की शिक्षा दी। ४—पुत्र जब योग्य उम्र में पहुँच गया तब उसको उत्तरदायित्वपूर्वक घर और राज्य का कारबार चलाने की शिक्षा देने के बाद ही साधक-जीवन स्वीकार किया। ५—साधक जीवन में उन्होंने अपना मनोयोग पूरा का पूरा आत्मशोधन की तरफ ही लगा दिया और आध्यात्मिक पूर्णता सिद्ध की। इन घटनाओं का उल्लेख दिगंबराचार्य जिनसेन और श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने किया है।

असंगत घटनाओं का असंगत समर्थन—

जिनसेन विक्रम की नवीं शताब्दी में तथा हेमचन्द्र विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हुए। जब इन दो आचार्यों और दूसरे उनके पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती आचार्यों ने ऋषभ का जीवन लिखना शुरू किया होगा तब उनके मानसिक संस्कार और ऋषभ के जीवन की घटना के बीच आसमान-जमीन जितना अन्तर पड़ गया था। सभी चरित्र-लेखक जैन आचार्यों के मन में जैन धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में एक ही छाप थी और वह सिर्फ निवृत्तिधर्म की। हर एक आचार्य यह मानने का आदी था कि जन्म से मृत्यु पर्यन्त निवृत्ति-अनगार धर्म और आध्यात्मिक साधना ही स्वाभाविक है। उसमें इससे भिन्न कुछ भी करना पड़े तो वह वस्तुतः कर्तव्य नहीं है—सिर्फ अपवाद रूप में ही करना पड़ता है। इस खयाल के कारण उन आचार्यों को स्वतंत्र रूप से धर्म का उपदेश देना हो तो भिन्न ही रीति से देना पड़ता।

आजकल जिस तरह हमको साधु जवाब देते हैं उसी तरह उस वक्त भी ये आचार्य लोग हमारे निम्न प्रश्नों का जवाब इसी तरह से देते थे। हमारे वयप्राप्त लड़के-लड़कियों का विवाह करने या गृह-त्या

कराने बाबत उनकी सम्मति माँगी जाय तो वे निर्विवाद रूप से यही मत दर्शाते हैं कि लग्न और गार्हस्थ्य बंधन त्याज्य है। खेती-बारी या दूसरे अति आवश्यक धन्धे करने के विषय में उनका मत पूछिये तो वे राय देंगे कि भाई ? यह तो कर्म बन्धन है, नरक ,का द्वार है; खेती में तो असंख्य जीव मरते हैं। अंगारकर्म, वनकर्म वगैरह धंधे तो जैनों के लिए कर्मादान रूप माने जाने के कारण त्याज्य ही हैं। लड़के-लड़कियों को घर-धन्धे की तमाम शिक्षा देने का माता पिता का अनिवार्य कर्तव्य है या नहीं ? इस प्रश्न के जवाब में या तो वे आचार्य चुप्पी साध लेते हैं या उनका निवृत्तिधर्म उनके पास भाषा-समिति के द्वारा इतना ही कहलाता है कि इस विषय में ज्यादा कहना मुनि का धर्म नहीं, तुम खुद ही यथायोग्य समझ लो। जिस प्रकार आत्मकल्याण हो, वैसा करो, इत्यादि।

ऋषभ के चरित्र-लेखक आचार्यों के इसी भाँति के संस्कार थे। जिन प्रश्नों का जवाब स्वतंत्र रूप से वे नकार में ही देते हैं वे प्रश्न ऋषभ का जीवन लिखते समय उनके सामने उपस्थित हुए। ऋषभ इतने अधिक मान्य और पूज्य थे कि उनके जीवन की एक-एक घटना का समर्थन किये बिना उनके लिये कोई चारा ही न था और दूसरी तरफ निवृत्तिधर्म विषयक उनके संस्कारों ने उस तरह समर्थन करने से रोका। आखिर में उन्होंने इन घटनाओं का समर्थन तो किया, परन्तु वह समर्थन कहने मात्र का और अस्पष्ट था। हेमचन्द्र विवाह के विषय में लिखते हुए कहते हैं कि[1] ऋषभदेव ने

१—मन्ये स्वामी वीतरागो गर्भवासात् प्रभृत्यपि।
चतुर्थपुरुषार्थाय सज्जोऽन्यार्थानिपेक्षया॥ ७६२॥
तथापि नाथ ! लोकानां व्यवहारपथोऽपि हि।
त्वयैव मोक्षवर्त्मेव सम्यक् प्रकटयिष्यते॥ ७६३॥
तल्लोकव्यवहाराय पाणिग्रहमहोत्सवम्।
विधीयमानं भवतेच्छामि नाथ ! प्रसीद मे॥ ७६४॥
दर्शनीया स्थितिर्लोके भोक्तव्यं भोग्यकर्म च।
अस्ति मे चिन्तयित्वैवमन्वन्यत तद्वचः॥ ८२५॥
ततः प्रभृति सोद्वाहस्थितिः स्वामिप्रवर्तिता।
प्रावर्तत परार्थाय महतां हि प्रवृत्तयः॥ ८८१॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित पर्व १. सर्ग. २

लोगों में विवाह-प्रवृत्ति चालू रखने के लिए विवाह किया। वे कहते हैं कि[1] सुनन्दा को स्वीकार करके उसका अनाथपन दूर किया। वे कहते हैं कि अनेक पत्नियों और सैकड़ों सन्तान वाला गृहस्थधर्म भगवान् ने अनासक्त भाव से बरता[2]। वे कहते हैं कि अनेक प्रकार के धंधे और शिल्प सिखाकर भगवान् ने समाज में जीवनयात्रा सरल करके उपकार किया। वे कहते हैं कि सन्तान को योग्य बना कर उसको सारी गृह राज्य की व्यवस्था सौंप कर ही दीक्षा ली (पर्व १. सर्ग. ३) और इस तरह से भगवान् ने जीवन-मार्ग में सामंजस्य स्थापित किया। हेमचन्द्र निवृत्तिधर्म से विरुद्ध दिखाई देनेवाले प्रवृत्तिधर्म के एक-एक अंग का समर्थन संक्षेप में एक ही वाक्य से करते हैं कि भगवान् विशिष्ट ज्ञानी थे, इसलिये उन्होंने त्याज्य और सावद्य कर्मों को भी कर्तव्य समझ कर अनासक्त भाव से किया[3]।

ऋषभदेव का विवाह, उनसे उत्पन्न हुई सन्तति; सन्तति को उन्होंने जो शिक्षण दिया और उसका जो पोषण किया, प्रजा सामान्य को जीवनोपयोगी कहे जाने वाले आरम्भ समारम्भ वाले सब तरह के धंधों का जो शिक्षण दिया तथा उन धन्धों में खुद प्रवृत्त

---

१ ततश्चैकाकिनीं मुग्धां मिथुनान्यवलोक्य ताम्।
किंकर्तव्यविमूढानि श्रीनाभेरुपनिन्यिरे ॥ ७५५ ॥
एषा ऋषभनाथस्य धर्मपत्नी भवत्विति।
प्रति जग्राह तां नाभिर्नेत्रकैरवकौमुदीम् ॥ ७५६ ॥
स्वाम्यप्यवधिनाऽज्ञासीत् कर्म भोगफलं दृढम्।
त्र्यशीति पूर्वलक्षाणां यावद् भोक्तव्यमस्ति नः ॥ ७६६ ॥
अवश्यभोक्तव्यमिदं कर्मेत्याधूनयन् शिरः ॥ ७६७ ॥
त्रिषष्टि० १. २.

२ भोगान् स्वाम्यप्यनासक्तः पत्नीभ्यां बुभुजे चिरम्।
सद्वेदनीयमपि हि न कर्म क्षीयतेऽन्यथा ॥ ८८२ ॥
त्रिषष्टि० १. २.

३ एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास जानन् कर्तव्यमात्मनः ॥ ९७१ ॥
—त्रिषष्टि० १. २.

हुए—इन सब घटनाओं का समर्थन[1] आचार्य जिनसेन और हेमचन्द्र करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि आजकल के भी सब छोटे बड़े फिरकों के धर्मोपदेशक पंडित और त्यागी ऐसा ही करते हैं। यहाँ सवाल यह है कि प्राचीन-काल में किया गया और आज कल भी किया जाने वाला यह समर्थन क्या वास्तविकता की दृष्टि से होता है, या महान् पुरुष के जीवन की घटनाएँ होने के कारण ही उनका समर्थन किया जाता है? अगर सिर्फ महान् पुरुष के जीवन की घटनाएँ होने के कारण ही (वस्तुतः समर्थन के योग्य न होते हुए भी) उनका समर्थन किया हुआ है और आजकल भी किया जाता है - यह विकल्प स्वीकार किया जाय तो इससे जैन समाज की चालू समस्याओं का हल तो होता ही नहीं बल्कि पंडितों और आचार्यों के विचार तथा व्यवहार का असत्य-सेवन रूप निर्बल पक्ष भी प्रकट होता है। अगर इस विकल्प को स्वीकार किया जाय कि प्राचीन काल का और

---

१ नाभिराजोऽन्यदा दृष्ट्वा यौवनारम्भमीशितुः।
परिणाययितुं देवमिति चिन्ता मनस्यधात् ॥ ५० ॥
गुरुब्रुवोऽहं तद्देव त्वामित्यभ्यर्थये विभुम्।
मतिं विधेहि लोकस्य सर्जनं प्रति संप्रति ॥ ६० ॥
त्वामादिपुरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्तताम्।
महतां मार्गवर्तिन्यः प्रजाः सुप्रजसो ह्यमूः ॥ ६१ ॥
इत्युदीर्य गिरं धीरो व्यरंसीन्नभिपार्थिवः।
देवस्तु सस्मितं तस्य वचः प्रत्यैच्छदोमिति ॥ ६६ ॥
किमेतत् पितृदाक्षिण्यं किं प्रजानुग्रहैषिता।
नियोगः कोपि वा तादृग येनैच्छत्तादृशं वशी ॥ ६७ ॥
अनङ्गत्वेन तन्नूनमेनयोः प्रविशन् वपुः।
दुर्गाश्रित इवानङ्गो विव्याधैनं स्वसायकैः ॥ ६८ ॥
ताभ्यामिति समं भोगान् भुञ्जानस्य जगद्गुरोः।
कालो महान् अगादेकक्षणवत् सततक्षणैः ॥ ६६ ॥
असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥ १७६ ॥
तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात्।
उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद् गुरुः ॥ १८० ॥
जिनसेन, महापुराण पर्व १६

आजकल का यह समर्थन सिर्फ वास्तविकता की दृष्टि से ही है तो इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि प्रवृत्तिधर्म से सम्बन्ध रखनेवाली उपर्युक्त घटनाएँ ऋषभ के जीवन में हुई हों या किसी दूसरे के जीवन में हुई हों या आज किसी साधारण व्यक्ति के जीवन में हों, वे सब वस्तुतः समर्थन योग्य हैं और उनका व्यक्तिगत समग्र जीवन की दृष्टि से तथा सामाजिक पूर्ण जीवन की दृष्टि से पूरा-पूरा स्थान है। अगर एक बार यह बात सिद्ध हो गई और यह स्वाभाविक है ऐसा मालूम हो जाय तो फिर आजकल के जैन समाज के मानस में जो ऐकान्तिक निवृत्तिधर्म के संस्कार जाने-अजाने घर किये हुये हैं और अविवेकपूर्वक पुष्ट किये जा रहे हैं उनका संशोधन करना समझदार लोगों का कर्तव्य है। यह संशोधन हम ऋषभ के पूर्ण जीवन का आदर्श रखकर करें तो उसमें भगवान् महावीर द्वारा परिष्कृत किया हुआ निवृत्तिधर्म तो आ ही जाता है लेकिन वैयक्तिक और सामाजिक पूर्ण जीवन के अधिकारप्राप्त सारे कर्त्तव्य और प्रवृत्तियों का समाधान भी मिल जाता है। इस समाधान के आधार पर दुनिया की कोई भी आवश्यक और विवेकयुक्त प्रवृत्ति सच्चे त्याग जितनी ही कीमती दिखाई देगी और वैसा होगा तो निवृत्ति-धर्म के एकदेशीय जाल में फँसे हुए जैनसमाज की समस्या अपने आप हल हो जायगी।

गीता का आश्रय लेकर हेमचन्द्र द्वारा निवृत्तिधर्म में संशोधन—

ऊपर कहा गया है कि हेमचन्द्र के परम्परागत ऐकान्तिक निवृत्तिधर्म के संस्कार होते हुये भी उनको ऋषभ के जीवन की सब सावद्य दिखाई देनेवाली प्रवृत्तियों का बचाव करना था। उनके वास्ते यह एक गूढ़ समस्या थी—पर उनकी सर्वशास्त्र को स्पर्श करने वाली और हर जगह से सत्य को बटोर लेने वाली गुणग्राहक दृष्टि के कारण उनको उक्त समस्या का समाधान गीता में से मिल गया। प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में जो सब कलहमय विरोध होता था, उनका गीताकार ने अनासक्त दृष्टि की बात लाकर समाधान कर दिया है। उसी दृष्टि को हेमचन्द्राचार्य ने अपनाया और भगवान् ऋषभदेव द्वारा आचरित समग्र जीवनव्यापी व्यवहार में उसको लागू किया। हेमचन्द्र की उलझन सुलझ गई। उन्होंने बड़े उल्लास

से कहा कि ज्ञानी होने से, सब कुछ जानते हुये भी, भगवान् ने सावद्य कर्म कर्त्तव्य समझकर किये। हेमचन्द्र का यह समर्थन एक तरफ तो प्राचीन जैनरूढ़ि की दिशा-भूल सूचित करता है और दूसरी तरफ हमलोगों को नया स्वरूप निर्माण करने का प्रकाश देता है। सचमुच जो ज्ञानी हैं वे तो दोष का यथार्थ स्वरूप समझ ही लेते हैं और इसीलिए बाह्य रूप से अनेक लाभ दिखाई देने पर भी वे दोष-मय प्रवृत्ति में नहीं पड़ते। इसलिए अगर सांसारिक जीवनोपयोगी प्रवृत्ति भी एकान्त दोषवाली ही हो तो ज्ञानी के लिये उसका त्याग ही धर्म बन जाता है। लेकिन अगर इस प्रवृत्ति का विष अनासक्त भाव को लेकर दूर हो एवं अनासक्त दृष्टि से यह प्रवृत्ति भी कर्त्तव्य सिद्ध होती हो तो आजकल के जैन-समाज को अपने संस्कारों में इस दृष्टि को दाखिल करके सुधार करना ही चाहिये। इसके सिवाय जैन-समाज के लिये दूसरा व्यावहारिक और शास्त्रीय मार्ग है ही नहीं।

हमारे देश में शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्गों में एक प्रकार की पंगुता है। शिक्षित वर्ग खूब शिक्षित होने पर भी अशिक्षित वर्ग से भी ज्यादा पंगु है; क्योंकि ऊन्होंने कर्मेन्द्रियों को काम में लाने को लघुता समझने का पाप किया है। कर्मेन्द्रियों की तालीम होते हुए भी अशिक्षित वर्ग बुद्धि की योग्य तालीम और सच्ची विचार-दिशा के बिना अन्धे-जैसा है। जैन-समाज के त्यागी वर्ग की और उसका अनुसरण करने वाले सब वर्गों की स्थिति एक समान बिगड़ी हुई है। वे त्याग की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं पर ऊनका जीवन दूसरों के कर्मों पर अनिवार्य रूप से अवलम्बित होने के कारण वे सच्ची रीति से त्याग की साधना नहीं कर सकते और कर्मपथ का आचरण भी नहीं कर सकते। जो प्रवृत्ति में पड़े हुए हैं वे मुसीबतों के ऐन मौके पर उसमें से मार्ग निकालने के बजाय त्याग का ऊटपटांग मार्ग ही पसन्द करते हैं। इससे जैन-समाज की प्रवृत्ति या निवृत्ति एक भी वास्तविक रहने नहीं पाई। गृहस्थ अपनी भूमिका के अनुसार प्रवृत्तिधर्म को थोड़ा भी सँभाल नहीं पाते। इस कठिनाई में से बचने की कुञ्जी मेरी समझ में भगवान् ऋषभदेव के स्वाभाविक जीवन-क्रम में से मिलती है। ऋषभ का जीवन बहुत दीर्घकाल से

आर्यजाति का आदर्श माना जाता रहा है और वह समस्त मानव-जाति का विशुद्ध आदर्श बनने की योग्यता भी रखता है।

भारत के प्रवृत्तिधर्म में विकृत निवृत्तिधर्म की छाप—

ऋषभ के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के जीवन की तरफ हम गौर करें। उनके सारे जीवन को न लेकर खास बातों की तरफ ही दृष्टिपात करें। ऐसे तो भरत का ऋषभ के पुत्र के रूप में जैन-परंपरा में जो वर्णन किया गया है उसी तरह ब्राह्मण-परंपरा में भी मिलता है। अलबत्ता भरत के जीवन का चित्रण दोनों परंपराओं ने अपने-अपने दृष्टिबिन्दु के अनुसार अलग-अलग रीति से ही किया है। यहाँ हम जैन-परंपरा के वर्णन के अनुसार ही भरत-जीवन की घटनाओं पर विचार करेंगे।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परंपराओं के अनुसार भरत का सारा जीवन उनके पिता से मिली हुई विरासत के माफिक प्रवृत्तिधर्म में ओतप्रोत है, इस विषय में तो शंका है ही नहीं। भरत वयःप्राप्त होने पर राज्य करता है, स्त्रियों के साथ गृह-जीवन बिताता है, प्रजापालन में धर्मपरायणता दिखाता है और अन्त में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करता है। यही स्पष्ट रूप से स्वाभाविक प्रवृत्तिधर्म है, परन्तु इसमें कहीं-कहीं चरित्र-लेखकों के समय के विकृत निवृत्तिधर्म के रंग भी चढ़ गये हैं।

हेमचन्द्र भरत के द्वारा आर्य-वेदों की रचना कराते हैं और ब्राह्मण-वर्ग की स्थापना कराते हैं और ब्राह्मण के कुलकर्म कराते हैं। जिनसेन के कथनानुसार भरत को ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करने के बाद उसके गुणदोषों के बारे में शंका होती है और उस शंका का निवारण करने के लिए वह अपने पिता ऋषभ तीर्थंकर से प्रश्न करता है। भगवान् भरत को ब्राह्मण वर्ग से होने वाली भावी खराबियों का वर्णन सुनाते हैं और आखिर में आश्वासन देते हुए कहते हैं कि जो हुआ सो हुआ, इससे अमुक लाभ भी हुआ है, इत्यादि। जिनसेन का भरत के स्वाभाविक जीवन को संकुचित

---

१. भरतोऽयं समाहूय श्रावकानभ्यधादिदम्।
गृहे मदीये भोक्तव्यं युष्माभिः प्रतिवासरम् ॥२२७॥

कृष्यादि न विधातव्यं किन्तु स्वाध्यायतत्परैः ।
अपूर्वज्ञानग्रहणं कुर्वाणैः स्थेयमन्वहं ॥२२८॥
भुक्त्वा च मेऽन्तिकगतैः पठनीयमिदं सदा ।
जितो भवान् वर्धते भीतस्तस्मान् मा हन मा हन ॥२२९॥
ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्गम् रेखात्रयं नृपः ।
वैकक्ष्यमिव काकिण्या विदधे शुद्धिलक्षणम् ॥२४१॥
तल्लांच्छना भोजनं ते लेभिरेऽथाऽपठन्निदम् ।
जितो भवानित्याद्युच्चैर्माहनास्ते ततोऽभवन् ॥२४३॥
निजान्यपत्यरूपाणि साधुभ्यो ददिरे च ते ।
तन्मध्यात् स्वेच्छया कैश्चिद्विरक्तैर्व्रतमाददे ॥२४४॥
अर्हत्स्तुतिमुनिश्राद्धसामाचारीपवित्रितान् ।
आर्यान् वेदान् व्यधाच्चक्री तेषां स्वाध्यायहेतवे ॥२४७॥
क्रमेण माहनास्ते तु ब्राह्मणा इति विश्रुताः ।
काकिणीरत्नलेखास्तु प्रापुर्यज्ञोपवीतताम् ॥२४९॥
जज्ञे साधुविच्छेदोऽन्तर्नवमदशमार्हतोः ।
एवं सप्तस्वन्तरेषु जिनानामेष वृत्तवान् ॥२५५॥
वेदाश्चार्हत्स्तुतियतिश्राद्धधर्ममयास्तदा ।
पश्चादनार्याः सुखसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृताः ॥२५६॥

—त्रिषष्टि, १.६

जिनसेन के मतानुसार ब्राह्मणेतर तीन वर्णों की स्थापना ऋषभ ने की थी—

पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता ।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ॥१४३॥
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः ।
यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायश्च पृथग्विधाः ॥१४४॥
तथात्राप्युचिता वृत्तिः उपायैरेभिरङ्गिनाम् ।
नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥१४५॥
अथानुध्यानमात्रेण विभोः शक्रः सहामरैः ।
प्राप्तस्तज्जीवनोपायानित्यकार्षीद्विभागतः ॥१४६॥

—जिनसेन महापु० पर्व-१६

उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा ।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥१८३॥

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन् ।
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपाशुपाल्योपजीविताः ॥१८४॥

तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः ।
कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१८५॥

कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।
तत्राऽस्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः ॥१७६॥

यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दधुरसङ्करम् ।
विवाहजातिसम्बन्धव्यवहारश्च तन्मतम् ॥१८७॥

यावती जगतीवृत्तिः अपापोपहता च या ।
सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ॥१८८॥

युगादिब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः ।
ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥१८९॥

कृत्वादितः प्रजासर्गं तद्वृत्तिनियमं पुनः ।
स्वधर्मानतिवृत्त्यैव नियच्छन्नन्वशात् प्रजाः ॥२४२॥

स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद् विभुः ।
क्षत्रत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥२४३॥

ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्राम् अस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः ।
जलस्थलादियात्राभिः तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः ॥२४४॥

न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः ।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥२४५॥

मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान् ।
अधीत्यध्यापने दानं प्रतीच्छेज्येति तत्क्रिया ॥२४६॥

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या तां स्वां च नैगमः ।
वहेत् स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः ॥२४७॥

—जिनसेन महापु० पर्व-१६

निवृत्तिधर्म में ढालने का प्रयत्न जरा भी छिपा रहने वाला नहीं है, परन्तु हेमचन्द्राचार्य का प्रयत्न तो इससे भी बढ़ा-चढ़ा और निराला है।

हेमचन्द्र भी जिनसेन की तरह ही भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना, आर्य-वेदों की रचना वगैरह सब कराते हैं, परन्तु उन्होंने अपने वर्णन में जो कौशल दिखाया है वह बुद्धि और कल्पनापूर्ण होते हुए भी पीछे के विकृत निवृत्तिधर्म की साक्षी देने वाला है। हेमचन्द्र के कथन के अनुसार भरत ने एक श्रावक-वर्ग स्थापित किया और उस वर्ग से उसने कहा कि तुम्हें कामकाज या धन्धा वगैरह नहीं करना, खेती-बारी, व्यापार या नौकरी या राज्य आदि किसी प्रपञ्च में नहीं पड़ना, तुम सब राज्य के भोजन-गृह में खाते रहो, हमेशा पठन-पाठन में लीन रहो और नित्यप्रति—"जितो भवान् वर्धते भीतस्तस्मात् मा हन मा हन" यह मन्त्र मुझको सुनाया करो। भरत का स्थापित किया हुआ यह श्रावकवर्ग उसकी योजना के अनुसार उसके भोजनगृह में जीमता और कुछ भी काम-काज न करके उसके रचे हुए वेदों का पाठ करता एवं भरत के द्वारा रचित उपर्युक्त उपदेश-मन्त्र उनको ही नित्य प्रति सुनाता। परन्तु हेमचन्द्र का आगे दिया हुआ वर्णन इससे भी ज्यादा आकर्षक है। वे कहते हैं कि भरत का स्थापित किया हुआ श्रावकवर्ग ही 'माहन, माहन' शब्द बोलने के कारण ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध हो गया। कोई यह न समझे कि हेमचन्द्र का यह श्रावकवर्ग काम धंधा छोड़ने वाला सिर्फ शास्त्रपाठी ही था। इस वर्ग के स्त्रियाँ और घरबार भी थे। खाना, पीना आदि सब पोषण राज्य और आम प्रजा की तरफ से चलने के कारण उस वर्ग के लोगों को बच्चे पैदा करके उनके पोषण की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। हेमचन्द्र के कथनानुसार तो यह वर्ग अपने अच्छे-अच्छे बालक साधुवर्ग को अर्पण करता था, जो बालक साधुओं के पास में दीक्षा लेते थे, और इस श्रावकवर्ग में से भी अनेक व्यक्ति विरक्त होकर खुद दीक्षा लेते थे।

ऊपर दिये हुए संक्षिप्त वर्णन से किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए यह समझना मुश्किल नहीं होगा कि आचार्य हेमचन्द्र ने भरत

के हाथों से जो श्रावक-वर्ग स्थापित कराया है और काम-धंधा छोड़कर सिर्फ शास्त्र पढ़ने में मशगूल रहने तथा राज्य के रसोई-घर में जाकर जीमने व भरत द्वारा रचा हुआ उपदेश पाठ भरत को ही सुना देने की जो बात कही है वह साधुसंस्था के लिए आवश्यक उम्मीदवारों की पूर्णतया पूर्ति करने वाले जीवित यन्त्र की ही बात है और वह जैन-परम्परा में पूर्व से चले आते हुए विकृत निवृत्तिधर्म को सूचित भर करती है। वर्तमान जैनसमाज में त्यागी वर्ग जैसी मनोवृत्ति रखता है, जैसे संस्कार का पोषण करता है और दीक्षा के निमित्त जो दाँवपेच रचता है, उसकी जड़ें तो सैकड़ों वर्ष पहले ही डाल दी गई हैं। हेमचन्द्र के समय में भी ये विकृतियां थीं। फर्क इतना ही था कि अमुक परिस्थिति के कारण वे विकृतियाँ ध्यान में नहीं आई थीं या किसी ने उनकी तरफ लक्ष्य नहीं दिया था। अगर बालबच्चे वाला सारा एक वर्ग कामधंधा छोड़कर पराश्रयी बनकर धर्म पालन करे, यह स्वाभाविक हो तो उसमें दोष आना ही न चाहिए, पर सच्ची बात यह है कि जैन-परम्परा में त्यागी वर्ग ने निवृत्तिधर्म की एक ही बाजू को पूर्ण जीवन मान कर उसी के विचारों का सेवन किया और उनका प्रचार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे गृहस्थ और त्यागी के जीवन में अनिवार्य रूप से आवश्यक कर्मों और प्रवृत्तियों का महत्त्व ही भूल गये। इसी से हम आज भरत के सहज प्रवृत्तिधर्म में विकृत निवृत्तिधर्म की छाप देखते हैं।

भरत के रचे हुए उपदेश-मन्त्र का अर्थ यह है कि तुम पराजित हुए हो, तुममें भय बढ़ रहा है, इसलिए तुम किसी को न मारो।[1] कितना सुन्दर और पारमार्थिक, सदा स्मरणीय उपदेश ! परन्तु इस उपदेश के सुनने में असंगति कितनो है ? उपदेशतत्त्व का विचार करने वाले वेदप्रणेता भरत स्वयं ही हैं। इसको शब्दों में उतारने वाले भी भरत स्वयं हैं। परन्तु भरत को अपने हो विचार का

---

१. जितोऽस्मि केन ? हुं ज्ञातं कषायैर्वर्धते च भीः।
कुतो मे ? तेभ्य एवेति मा हन्यां प्राणिनस्ततः ॥२३२॥
—त्रिषष्टि. १, ६

खयाल नहीं रहता जिससे वह एक भाड़े के और अकर्मण्य पराव-लम्बी वर्ग से अपना रचा हुआ वाक्य सुनना पसन्द करता है। क्या यह बात भद्दी नहीं लगती ? परन्तु इस वर्णन में हेमचन्द्र का लेशमात्र भी दोष नहीं है। वे तो एक कल्पनासमृद्ध और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। वे खुद जिन संस्कारों से दीक्षित हुए और जिन संस्कारों में उनका पोषण हुआ, उनका कवित्वमय चित्रण उन्होंने किया था। इस पर से अगर हम यह समझ लें कि निवृत्तिधर्म की एक-देशीयता ने प्रवृत्तिधर्म को कितना विकृत बना दिया तो हमारे लिए काफी है।

भरत और बाहुबली—

जिनसेन या हेमचन्द्र के काव्यमय वर्णन में अनेक ज्ञानप्रद बातें मिलती हैं। उनमें भरत-बाहुबली से सम्बद्ध एक बात पर सरसरी नजर हम डालें, जो इस वक्त बिल्कुल प्रासंगिक है। दोनों भाई लड़ाई में उतरे। आमने-सामने बड़ी-बड़ी फौजों के मोर्चे बने। अनेक तरह के संहार-प्रतिसंहार के बाद आखिर इन्द्र की दी हुई सलाह को दोनों ने माना। वह सलाह यह थी कि भाई ! लड़ना हो तो लड़ो, पर ऐसे लड़ो कि जिससे तुम्हारी लड़ाई की भूख भी मिट जाय और किसी का नुकसान भी न हो। सिर्फ तुम दोनों आपस में लड़ो[1]। इस सलाह के अनुसार उनके पाँच युद्ध निश्चित हुए—जिनमें चक्र और मुष्टि-युद्ध जैसे युद्ध तो हिंसक थे पर साथ-साथ अहिंसक युद्ध भी थे। इन अहिंसक युद्धों में दृष्टि-युद्ध और नाद-युद्ध आते हैं। जो जल्दी आँख बन्द कर ले या निर्बल आवाज करे, वह

---

१. तथापि प्रार्थ्यसे वीर ! प्रार्थनाकल्पपादप ! ।
उत्तमेनैव युद्धेन युद्ध्येथा माऽधमेन तु ॥५१५॥
अधमेन हि युद्धेन युवयोरुग्रतेजसोः ।
भूयिष्ठलोकप्रलयादकाले प्रलयो भवेत् ॥५१६॥
दृष्टियुद्धादिभिर्युद्धैर्योद्धव्यं साधु तेषु हि ।
आत्मनो मानसिद्धिः स्यात् लोकानां प्रलयो न च ॥५१७॥
—त्रिषष्टि १.५

हारे, यह अहिंसक युद्ध सब के सीखने लायक है। सारे संसार में इसका प्रसार हो और अगर इसके लिए त्यागीगण प्रयत्न करें तो उसके द्वारा संसार का कितना हित हो? इससे युद्ध की तृष्णा पूरी होगी, हार-जीत का निश्चय हो जायगा और संहार होने से रुक जायेगा। परन्तु दूसरे लोग नहीं तो आखिर जैन ही यह कहेंगे कि जगत् ऐसे युद्ध को स्वीकार करेगा सही? पर यहीं जैन भाइयों को हम पूछें कि जगत् उस अहिंसक युद्ध को स्वीकार न करे तो न सही, परन्तु अहिंसा और निवृत्तिधर्म का उपदेश दिन-रात देने वाले त्यागी वर्ग जो आमने-सामने की छावनियों में बैंटकर अपने-अपने पक्षों के लड़ाकू श्रावकों को खड़े करके अनेक भाँति से लड़ रहे हैं, वे ऐसे किसी अहिंसक युद्ध का आश्रय क्यों न लें? अगर दो मुख्य आचार्यों के बीच में तकरार हो तो वे दोनों ही दृष्टि या मौन-युद्ध से नहीं तो तप-युद्ध से हार-जीत का निर्णय क्यों नहीं कर लेते? जो अधिक और उग्र तप करे वह जीते। इससे संयम-पोषण के साथ-साथ जगत् में आदर्श स्थापित होगा।

इसके अलावा बाहुबली के जीवन में से एक बहुत महत्त्व का सबक यह भी जैनों को सीखने के वास्ते मिलता है कि बाहुबली ने भरत को मारने के लिए मुट्ठी तो उठायी, किन्तु तुरन्त विवेक उत्पन्न होते ही उन्होंने मुट्ठी बीच में ही रोक ली। रोककर भी उसको अपने सिर पर चलाया, सो भी इस तरह कि जिससे आत्म-घात न हो पर अभिमान-घात हो।[1] उन्होंने अहंकार की प्रतीक

---

१. अमर्षाच्चिन्तयित्वैवं सुनन्दानन्दनो दृढाम्।
मुष्टिमुद्यम्य यमवद् भीषणः समधावत ॥७२७॥
मर्यादोर्व्यामिवोदन्वांस्तत्र तस्थौ रयादपि।
एवं च स महासत्त्वश्चिन्तयामास चेतसि ॥७२६॥
अहो राज्यस्य लुब्धेन लुब्धकादपि पापिना।
अमुनेव समारब्धो धिग्-धिग् भ्रातृवधो मया ॥७३२॥
त्रिजगत्स्वामिनो विश्वाभयदानैकसत्रिणः।
एष पान्थी भविष्यामि पथि तातस्य संप्रति ॥७३६॥
इत्युदित्वा महासत्त्व : सोऽग्रणी शीघ्रकारिणम्।
तेनैव मुष्टिना मूर्ध्नि उद्दध्रे तृणवत् कचान् ॥७४०॥
त्रिषष्टि० १. ५.

रूप चोटी को ही उखाड़ फेंका। इस घटना में कितना रहस्य और कितना बोधपाठ है? खास कर धर्म के नाम पर लड़ने वाले हमारे फिरकों और गुरुओं के लिए तो बाहुबली का यह प्रसंग पूरा-पूरा मार्मिक है।

ब्राह्मी और सुन्दरी—

अन्त में हमको इन दोनों बहनों के बारे में भी विचार करना चाहिये। ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों मात्र काल्पनिक हों या और काल्पनिक, पर उनके चरित्र, जीवन में अत्यन्त स्फूर्ति देने वाले सिद्ध हो सकते हैं। इन प्रातःस्मरणीय बहनों के बारे में तीन बातों की तरफ ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ—(१) आजीवन कौमार्य और ब्रह्मचर्य, (२) भाई भरत की इच्छा के वशीभूत न होकर उग्र तप पूर्वक सुन्दरी का गृहत्याग, (३) दोनों बहनों द्वारा बाहुबली को प्रतिबोध देना और उसका तत्काल उस पर असर होना।

पिता ऋषभ व भाई भरत और बाहुबली के दीर्घ जीवन में तथा उनके आसपास सर्वत्र प्रवृत्तिधर्म ही प्रचलित था। ऐसे वातावरण में इन दोनों बहनों का कौमार्य-व्रत और निवृत्तिधर्म का ऐकान्तिक ग्रहण बहुत कम स्वाभाविक और सम्भव लगता है। उस समय की समग्र समाज-रचना में उनका यह निवृत्तिमय जीवन बिल्कुल अनोखी छाप डालता है। अगर ऐसा जीवन उस समय शक्य न हो और चरित्र-लेखकों के निवृत्तिमय मानसिक संस्कारों का ही यह प्रतिबिम्ब हो तो भी ये बहिनें सहज सरलता के कारण महासती पद के योग्य हैं ही।

भाई-बहिन का विवाह उस जमाने की सामान्य तथा मानी हुई रीति थी। आज जो अनीति गिनी जाती है वह उस समय प्रतिष्ठित नीति थी। हम नीति-अनीति की इस परिवर्तनशील प्रथा में से बहुत कुछ सीख सकते हैं और लग्न, पुनर्लग्न, अन्तर्ज्ञाति-लग्न, अन्तर्जाति लग्न, अन्तर्वर्ण-लग्न और अन्तरराष्ट्रीय लग्न आदि अनेक सामाजिक

सम्बन्धों के विविध पहलुओं के बारे में आवश्यक सबक सीख सकते हैं और जरूरी बल भी पा सकते हैं। भरत सुन्दरी के साथ विवाह करना चाहता था। सुन्दरी, भरत को अपात्र गिनती हो, यह बात तो नहीं थी, पर विवाह करना ही नहीं चाहती थी। वह ब्राह्मी का अनुसरण करके संन्यास-धर्म अंगीकार करना चाहती थी। यद्यपि वह उस समय की समाज-रचना तथा कुटुम्ब-रचना एवं कुटुम्ब-मर्यादा के अनुसार बिलकुल स्वतन्त्र रूप से पली हुई थी, फिर भी उसने भरत की इच्छा का स्पष्ट शब्दों में इन्कार न करके उग्रतप द्वारा सौन्दर्य को नष्ट करके भरत का आकर्षण मिटाने का मार्ग स्वीकार किया।[1] सुन्दरी का यह व्यवहार ऋषभ की पुत्री या बाहुबली की बहन को शोभा दे, ऐसा है या मध्ययुग की किसी अबला के लिए लागू हो, ऐसा है ?

विचारक को सुन्दरी के इस तपोनुष्ठान में ऐकान्तिक निवृत्ति-धर्म के युग की छाप मालूम हुए बिना शायद ही रह सके। चाहे जो हो, पर इस स्थान पर सुन्दरी और भरत के युगल की ऋग्वेद के यम-यमी युगल के साथ खास तुलना करने योग्य है। ऋग्वेद में यमी अपने सगे भाई यम को अपने साथ विवाह करने की प्रार्थना करती है। जब भाई यम उसको किसी दूसरे पुरुष को पसन्द करने तथा अपने को न चुनने के लिए कहता है, तो यमी चण्डी का रूप धारण करके भाई यम को हिजड़ा तक कहकर उसका तिरस्कार

---

१ किन्तु देवो यदायगाद् दिग्विजयाय तदाद्यसौ।
आचामाम्लानि कुरुते प्राणत्राणाय केवलं ॥७४६॥
तथा यदैव देवेन प्रव्रजन्ती न्यषिध्यत।
ततः प्रभृत्यसौ तस्थौ भावतः संयतैव हि ॥७४५॥
अनुज्ञाता नरेन्द्रेण मुदितेन व्रताय सा।
तपःकृशाऽप्यकृशेव प्रमदोच्छ्वसिताऽभवत् ॥७५४॥
—त्रिषष्टि० १.४.

करती है। सुन्दरी के कथानक में इससे बिल्कुल उल्टा है। भरत सुन्दरी के साथ विवह करना चाहता है जब कि सुन्दरी भाई भरत की माँग को पसन्द नहीं करती। माँग को अस्वीकार करते हुए सुन्दरी कुपित नहीं होती और सुन्दरी का विपरीत मत देखकर भरत रोष नहीं लाता बल्कि दोनों में आपसी सौमनस्य बढ़ता है। यम-यमी और भरत-सुन्दरी के प्रसंग भाई-बहिन के लग्न-व्यवहार की नीति के अन्तिम प्रसंग हों ऐसा लगता है। परन्तु ऋग्वेद के यमी सूक्त में दिये हुए प्रसंग की अपेक्षा जैन-परम्परा में दिया हुआ भरत-सुन्दरी का प्रसंग विशेष सात्त्विक है, क्योंकि पहले प्रसंग में यमी सात्त्विकता खो देती है जब कि दूसरे प्रसंग में सुन्दरी और भरत दोनों सात्त्विकता में अवगाहन करके पवित्र हो जाते हैं।

बाहुबली को प्रतिबोध देने की बात कई दृष्टियों से महत्त्व की है। पहली बात तो यह है कि एक महान् बली और अभिमानी पुरुषकेसरी साधु प्रतिबोध[1] का लक्ष्य है और प्रतिबोध करने वाली दो अबलाएँ उसके नीचे के दर्जे की साध्वियाँ हैं। ऐसा होते हुए भी प्रतिबोध का परिणाम आश्चर्यजनक होता है। बहनों की नम्र किन्तु निर्भय बात भाई को सीधे हृदय में जाकर लगती है और वह क्षणमात्र में अपनी भूल को पहचान कर दूसरे ही क्षण उसका संशोधन कर डालता है—जैसे कि राजीमती का उलाहना सुन कर उसके देवर तपस्वी साधु रथनेमि का हृदय जागृत हो उठता है। क्या आजकल के तुमुल धार्मिक युद्ध में संलग्न गृहस्थ या साधु-पुरुषवर्ग को उनकी भूल समझाने वाली और सत्य से उनकी आँखें खोलने वाली ज्यादा नहीं तो एकाध बहिन भी ब्राह्मी-सुन्दरी का प्रातःस्मरण करने वाले जैन समाज में नहीं हैं? क्या ब्राह्मी और सुन्दरी का महत्त्व गाने वाला सारा वर्तमान जैन अबला-समाज सचमुच ही साहस और विचारों में वन्ध्या हो गया है? इसमें एक

---

१. आज्ञापयति तातस्त्वां ज्येष्ठार्य भगवानिदम्।
हस्तिस्कन्धाधिरूढानामुत्पद्येत न केवलम् ॥७८८॥
—त्रिष० १. ५.

भी ऐसी नारी-रत्न नहीं कि जो धर्म के नाम पर लड़ते हुए अभिमानी पुरुषों की भूल के मर्मस्थान को समझे और वह उनके सामने निर्भयता के साथ प्रकट करे ? इसी तरह क्या एक भी ऐसा पुरुष-केसरी साधुराज नहीं कि जो बाहुबली की तरह सरल हृदय वाला हो और भूल बताने वाला कौन है, इसका विचार किये बिना ही, भूल तो भूल ही है, यह समझ कर अपनी भूल को मंजूर कर ले और उसका संशोधन करके आध्यात्मिक और सामाजिक कल्याण को निरापद बनावे ? हमारी कामना है कि समाज में ब्राह्मी-सुन्दरी जैसी बहिनें हों और बाहुबली के समान पुरुष !

उपसंहार—

लेख में दिये हुए मुद्दे संक्षेप में नीचे अनुसार हैं—

(१) भगवान् ऋषभ सिर्फ जैन-समाज के ही नहीं वरन् सारी आर्य-जाति के उपास्य देव हैं।

(२) भगवान् ऋषभ द्वारा प्रतिपादित और आचरित प्रवृत्ति-धर्म ही वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के साथ सुमेल रखने वाला होने के कारण जैनधर्म का असली स्वरूप है।

(३) वर्तमान जैनसमाज की ऐकान्तिक निवृत्ति की समझ समग्र जीवन की दृष्टि से अधूरी है, इसलिए ऋषभ का आदर्श सामने रखकर उसमें संशोधन करने की जरूरत है।

(४) आचार्य हेमचन्द्र जैसों ने इस तरह के संशोधन की दिशा भी सूचित कर दी है और आज के कर्मयुग में तो वह सहज ही मिल सकती है।

(५) भरत के जीवन में भी प्रवृत्ति-धर्म का स्वाभाविक स्थान है। प्रसंग-प्रसंग पर जो निवृत्ति-धर्म के चित्र नजर आते हैं वे पीछे *की जैन-धर्म विषयक अधूरी समझ के परिणाममात्र हैं।*

(६) बाहुबली भरत से भी अधिक उन्नत पात्र हैं। उन्होंने निश्चित विजय के पास पहुंच कर भी त्याग दिखाकर बड़ा भारी

आदर्श उपस्थित किया है। बहिनों के उपदेश को नम्रता से स्वीकार करके अनेकमुखी भव्यता प्रदर्शित की है। ब्राह्मी और सुन्दरी के पात्र प्रातःस्मरणीय हैं। उनमें भी सुन्दरी ब्राह्मी की अपेक्षा कई तरह से अधिक सात्विकता दिखलाती है। उनका सौन्दर्य वासना के वशीभूत नहीं होने में है।

1942 A. D.] [अनुवादक —श्री भँवरमल सिंघी M. A.]

———

भगवान् नेमिनाथ और कृष्ण

नेमिनाथ और राजीमती के विषय में जैन बहुत कुछ जानते होंगे, छोटे बच्चे भी कुछ न कुछ जानते होंगे, फिर भी इस विषय में कुछ लिखना बोधप्रद होगा।

मैं जब बनारस में था तब अखबारों में दुष्काल का समाचार पढ़ता था और पशुओं के मरने के समाचार से मेरा मन अति उद्विग्न होता था। मनुष्य भी मरते हैं किन्तु हमारा ध्यान मूक पशुओं की ओर अधिक आकृष्ट होता है। उस समय मैं आचार्य हेमचन्द्र के जीवन से सम्बद्ध एक पुस्तक की प्रस्तावना पढ़ रहा था। उसमें नेमिनाथ का उल्लेख मिला। तब से इस विषय पर कुछ लिखने की इच्छा उदित हुई थी।

नेमिनाथ के विषय में कुछ कहना हो तो कृष्ण के विषय में भी कुछ जानना आवश्यक है। नेमिनाथ और कृष्ण इन दोनों को हम अपने आदर्श मानें तो हमने संपूर्ण आर्य संस्कृति को समझा है ऐसा कहा जा सकता है।

उन दोनों का जन्म यदुकुल में हुआ था। नेमिनाथ का जन्म आज से छियासीं हजार वर्ष पहुले हुआ था ऐसी जैन-परंपरा है। ब्राह्मण-परंपरा के अनुसार कृष्ण का जन्म पाँच हजार वर्ष पहले हुआ था। यदि नेमिनाथ और कृष्ण दोनों चचेरे भाई थे तो उक्त जैन-परम्परा की मान्यता में भूल है ऐसा मानना पड़ेगा। मेरे मन से नेमिनाथ छियासी हजार वर्ष पूर्व नहीं किन्तु पार्श्वनाथ से कुछ पहले हुए हैं। अतएव समय के विषय में जैन-परम्परा को बहुत तूल नहीं देना चाहिए।

यदुवंश की उन्नति मथुरा के आसपास हुई है। वसुदेव के पुत्र कृष्ण और वसुदेव के भाई समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ हैं। जैन-परम्परा में नेमिनाथ के वर्णन में कृष्ण का भी बहुत वर्णन

आता है। ब्राह्मण परम्परा में कृष्ण का बर्णन तो बहुत मिलता है किन्तु उसमें नेमिनाथ का उल्लेख तक नहीं। यह एक आश्चर्य की बात है।

मथुरा में जब कृष्ण को आफत में फँसना पड़ा तब उन्होंने अपनी राजधानी द्वारका में बनाई। नेमिनाथ का बचपन और यौवन द्वारका में व्यतीत हुआ था ऐसा प्रतीत होता है। नेमिनाथ और राजीमती का जीवन जैन-परंपरा की त्यागवृत्ति का नमूना है। नेमिनाथ लग्न करने की इच्छा नहीं रखते थे किन्तु दूसरों के आग्रह के कारण लग्न करने को तैयार हुए थे। लग्न के समय कत्ल के लिये इकट्ठे किये गये पशुओं को देखकर नेमिनाथ में करुणा उमड़ पड़ती है और मानसिक कम्प का अनुभव उन्हें होता है और पशुवध के ख्याल से लग्न को तिलाञ्जलि देकर वे गिरनार पर तपश्चर्या करने चले जाते हैं।

राजीमती कंस की बहन और राजा उग्रसेन की पुत्री थी। राजीमती ने जब नेमिनाथ का विषय में त्यागभाव जाना तो वह भी संसा[illegible] कर तपस्या करने के लिए चल देती है। तपस्या के समय नेमिनाथ का भाई रथनेमि जो साधु हो गया था, राजीमती के रूप पर मुग्ध होता है किन्तु राजीमती ने उन्हें उपदेश देकर साधु-धर्म में स्थिर किया। इसके बाद राजीमती और नेमिनाथ उपदेश करते हुए विचरण करते हैं। जैन-परंपरा के अनुसार साधु और साध्वी का जैसा आचार होता है तदनुसार उन दोनों का जीवन व्यतीत हुआ। ये दोनों ऐतिहासिक पात्र हों या न हों, किन्तु जैन लोगों के मन में उन्होंने ऐसा अचल स्थान पाया है जैसा कि हिन्दूमात्र के मन में राम-सीता ने। अतएव उनके अस्तित्व के विषय में किसी को सन्देह नहीं होगा।

कृष्ण विषयक साहित्य इतना विशाल है, तत्सम्बंधी गीत संस्कृत और प्राकृत में इतने अधिक हैं कि केवल उन्हीं का संग्रह एक महाभारत हो जाये। जैन भी कृष्ण को नेमिनाथ के समान मानकर भावी तीर्थंकर के रूप में जानते हैं। किन्तु हम यदि दोनों के चरित्र को अधिक समझने का प्रयत्न करें तो हमें सच्चा रहस्य प्रतीत हो जायगा।

पशुहिंसा के ख्याल से दुःखित होकर नेमिनाथ साधु बन जाते हैं। राजीमती भी नेमिनाथ के प्रति राग के कारण नहीं किन्तु सच्चे त्याग से प्रेरित होकर साध्वी बन जाती है। वह रथनेमि की चंचल वृत्ति का संयम में स्थिरीकरण करती है। ऋग्वेद में यम और यमी इन दोनों भाई बहन का वर्णन आता है। उसमें यमी को लग्न की इच्छा होती है किन्तु उसका भाई यम उसे संयम में स्थिर करता है। नेमिनाथ और राजीमती के जीवन के ये प्रसंग छोटे होने पर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जैन-आदर्श में जो संत और त्याग के आदर्श का स्थान है वह हमें नेमिनाथ और राजीमती के जीवन में प्रत्यक्ष होता है।

वस्तुतः कृष्ण ने ही गीता का बोध दिया हो या उनके बाद किसी ने उनके नाम से गीता को लिखा हो किन्तु वह निःसंदेह अत्यन्त जीवन-स्पर्शी है और उसमें वैदिक संस्कृति का सार आ जाता है। यही कारण है कि वह आज धार्मिक साहित्य में श्रेष्ठ है।

नेमिनाथ के जीवन में जैसा प्रसंग है उससे भिन्न प्रकार का प्रसंग कृष्ण के जीवन में है। अतिवृष्टि के कारण पीड़ित पशुओं की उन्होंने गोवर्धन पर्वत का उत्तोलन कर रक्षा की थी और आज भी जगह-जगह ब्राह्मण-परंपरा की ओर से गौशालाओं का संचालन हो रहा है। इन गौशालाओं में अधिकांश गायें ही रखी जाती हैं।

अन्य प्रान्तों में गौओं की रक्षा की व्यवस्था तो हो ही जाती है किन्तु गौ के उपरांत अन्य पशुओं की भी रक्षा की व्यवस्था अधिकांश में गुजरात में ही देखी जाती है उसका कारण नेमिनाथ के जीवन का असर हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अतएव हम कृष्ण को गौरक्षक और नेमिनाथ को पशु-रक्षक के रूप में पहचान सकते हैं। कृष्ण का सम्बन्ध गोपालन, गोसंवर्धन के साथ माना गया है। इसी प्रकार नेमिनाथ का सम्बन्ध पशु-पालन और पशु-रक्षण के साथ है। इसकी साबिती गिरनार और काठियावाड़ में मिलती है।

नेमिनाथ का सम्बन्ध व्यवहारमार्ग से अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग से नहीं रहा ऐसा प्रतीत होता है। कोई भी व्यक्ति त्यागी होने के बाद उनके जीवन से पर्याप्त मात्रा में सबक सीख सकता है। जब

कि कृष्ण का संपूर्ण जीवन व्यवहार-पूर्ण है। संसार में रहने पर भी उससे अलिप्त रहने का बोध उनके जीवन में प्राप्त होता है। नेमिनाथ और कृष्ण में आर्यसंस्कृति के दो आदर्श उपस्थित होते हैं।

आर्यसंस्कृति में हीनयान और महायान ऐसे दो आदर्श हैं। हीनयान आदर्श अपने में ही परिसमाप्त है। अपने कल्याण के साथ आनुषंगिक रूप से दूसरे का कल्याण होता हो तो भले ही हो, परन्तु मुख्यतया सारा प्रयत्न स्वकल्याण के लिये है और होना चाहिये ऐसी हीनयान की मान्यता है। जब कि महायान का आदर्श सबके कल्याण को प्रथम स्थान देता है, जैनों ने हीनयान वृत्ति को अधिक पसंद किया है ऐसा प्रतीत होता है। ब्राह्मण लोगों ने महायान के आदर्श को भी स्वीकृत किया है। कृष्ण के जीवन में सुदामा का प्रसंग आता है। वैभव के बीच भी वह अलिप्त रहता है। समरांगण में भी वह तटस्थ रूप से रहता है।

उक्त दोनों आदर्शों को पृथक् कर देने से हमारी संस्कृति ने काफी मात्रा में हानि उठाई है। ब्राह्मणों ने और जैनों ने एक दूसरों के महापुरुषों के विषय में कितना कम जाना है? हीनयान और महायान के आदर्श पृथक् ही रह गये यह अच्छा नहीं हुआ। भारतीय संस्कृति के संपूर्ण रूप को समझने की इच्छा हो तो नेमिनाथ और कृष्ण दोनों के विषय में हमारी जानकारी होना जरूरी है। रसवृत्ति, बुद्धि और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यदि हम कृष्ण का परिचय प्राप्त न करें तो नेमिनाथ को भी हम ठीक नहीं जान सकते। कृष्ण के भक्त जो महायानी हैं उनके लिये नेमिनाथ के जीवन में से बहुत कुछ सीखनेयोग्य है। कृष्ण का नाम लेकर वे अपनी राजस और तामस वृत्ति को पुष्ट कर रहे हैं। उन्हें चाहिए कि वे नेमिनाथ और राजीमती के जीवन में से त्याग और तपस्या सीखें। इसी तरह नेमिनाथ के भक्त भी यदि व्यवहारकुशल होना चाहते हों तो उन्हें कृष्ण के जीवन में से बहुत कुछ सीखना होगा। जैन आचार्यों ने भी कृष्ण-कथा लिखी है, उनके पिता वसुदेव की भी कथा लिखी है। यह अत्यन्त रसपूर्ण है। कृष्ण के जीवन के वास्तविक अंशों को नेमिनाथ के जीवन के साथ जोड़कर हम

आर्यसंस्कृति का सच्चा स्वरूप जान सकते हैं। गोपालन और पशुपालन की आवश्यकता उन्हीं के जीवन से सीखनी होगी। अन्तिम समय में बाण मारने वाले को भी कृष्ण उदार चित्त से क्षमादान देते हैं इतना ही नहीं, किन्तु उसे पशुपालन का बोध देते हैं। महावीर एवं बुद्ध जैसे सभी महापुरुषों के जीवन में ऐसे दृष्टांत मिलते हैं। वस्तुतः वे सभी स्थूल जीवन के प्रति निर्भय होते हैं।

अतएव मैं जैनों से कृष्ण के जीवन को पढ़ने की सिफारिश करता हूँ और जैनेतरों को नेमिनाथ और राजीमती की कथा को सहानुभूति से पढ़ने का सूचन करता हूँ। इससे पारस्परिक पूर्वाग्रहों का लोप होगा और आर्यसंस्कृति की दोनों बाजुओं का दर्शन होगा। व्यवहार के कार्य करते हुए अलिप्त रहने की भावना कृष्ण के जीवन से प्राप्त होती है। नेमिनाथ और कृष्ण के जीवन में वस्तुतः कुछ भी विरोध नहीं है। जो कुछ दीखता है वह स्थूल विरोध मात्र है।

प्रबुद्ध जैन] **[अनु०—दलसुख मालवणिया]**

१५-११-४१

——

दीर्घ तपस्वी महावीर

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहिले जब भगवान् महावीर का जन्म नहीं हुआ था, भारत की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति ऐसी थी जो एक विशिष्ट आदर्श की अपेक्षा रखती थी। देश में ऐसे अनेक मठ थे, जहाँ आजकल के बाबाओं की तरह झुण्ड के झुण्ड रहते थे और तरह-तरह की तामसिक तपस्याएँ करते थे। अनेक ऐसे आश्रम थे, जहाँ दुनियादार आदमी की तरह ममत्व रखकर आजकल के महन्तों के सदृश बड़े-बड़े धर्मगुरु रहते थे। कितनी ही संस्थाएँ ऐसी थीं जहाँ विद्या की अपेक्षा कर्मकाण्ड की, खास करके यज्ञ की प्रधानता थी और उन कर्मकाण्डों में पशुओं का बलिदान धर्म माना जाता था। समाज में एक ऐसा बड़ा दल था, जो पूर्वज के परिश्रमपूर्वक उपार्जित गुरुपद को अपने जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्थापित करता था। उस वर्ग में अपवित्रता की, उच्चता की और विद्या की ऐसी कृत्रिम अस्मिता रूढ़ हो गई थी कि जिसकी बदौलत वह दूसरे कितने ही लोगों को अपवित्र मानकर अपने से नीच समझता और उन्हें घृणायोग्य समझता, उनकी छाया के स्पर्श तक को पाप मानता तथा ग्रन्थों के अर्थहीन पठन मात्र में पाण्डित्य मान कर दूसरों पर अपनी गुरुसत्ता चलाता। शास्त्र और उसकी व्याख्याएँ विद्वद्गम्य भाषा में होती थीं, इससे जनसाधारण उस समय उन शास्त्रों से यथेष्ट लाभ न उठा पाता था। स्त्रियों, शूद्रों और खास करके अति शूद्रों को किसी भी बात में आगे बढ़ने का पूरा मौका नहीं मिलता था। उनकी आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं के जागृत होने का, अथवा जागृत होने के बाद उनके पुष्ट रखने का कोई खास आलम्बन न था। पहिले से प्रचलित जैन गुरुओं की परम्परा में भी बड़ी शिथिलता आ गई थी। गण-सत्ताक अथवा राज-सत्ताक राज्य इधर-उधर बिखरे हुए थे। यह सब कलह में जितना अनुराग रखते, उतना मेल-मिलाप में नहीं। हर

एक दूसरे को कुचल कर अपने राज्य के विस्तार करने का प्रयत्न करता था।

ऐसी परिस्थिति को देखकर उस काल के कितने ही विचारशील और दयालु व्यक्तियों का व्याकुल होना स्वाभाविक है। उस दशा को सुधारने की इच्छा कितने ही लोगों को होती है। वह सुधारने का प्रयत्न भी करते हैं और ऐसे साधारण प्रयत्न कर सकने वाले नेता की अपेक्षा रखते हैं। ऐसे समय में बुद्ध और महावीर का जन्म होता है।

महावीर के वर्धमान, विदेहदिन्न और श्रमण भगवान् ये तीन नाम और हैं। विदेहदिन्न नाम मातृपक्ष का सूचक है, वर्धमान नाम सबसे पहिले पड़ा। त्यागी जीवन में उत्कट तप के कारण महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए और उपदेशक जीवन में श्रमण भगवान् कहलाये। इससे हम भी गृह जीवन, साधक जीवन और उपदेशक जीवन इन तीन भागों में क्रमशः वर्धमान, महावीर और श्रमण भगवान् इन तीन नामों का प्रयोग करेंगे।

महावीर की जन्म-भूमि गंगा के दक्षिण विदेह (वर्तमान विहार-प्रान्त) है, वहाँ क्षत्रियकुण्ड और कुण्डलपुर नाम का एक कस्बा था। जैन लोग उसे महावीर के जन्मस्थान के कारण तीर्थभूमि मानते हैं।

जाति और वंश—

श्री महावीर की जाति क्षत्रिय थी और उनका वंश नाय (ज्ञात) नाम से प्रसिद्ध था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ था, उन्हें श्रेयांस और यशांस भी कहते थे। चाचा का नाम सुपार्श्व था और माता के त्रिशला, विदेहदिन्ना तथा प्रियकारिणी ये तीन नाम थे। महावीर के एक बड़ा भाई और एक बड़ी बहिन थी। बड़े भाई नन्दिवर्धन का विवाह उनके मामा तथा वैशाली नगरी के अधिपति महाराज चेटक की पुत्री के साथ हुआ था। बड़ी बहिन सुनन्दा की शादी क्षत्रियकुण्ड में हुई थी और उसके जमाली नाम का एक पुत्र था। महावीर स्वामी की प्रियदर्शना नामक पुत्री से उसका विवाह हुआ था। आगे चलकर जमाली ने अपनी स्त्री-सहित

भगवान् महावीर से दीक्षा भी अंगीकार कर ली थी। श्वेताम्बरों की धारणा के अनुसार महावीर ने विवाह किया था, उनके एक ही पत्नी थी और उनका नाम था यशोदा। इनके सिर्फ एक ही कन्या होने का उल्लेख मिलता है।

ज्ञात क्षत्रिय सिद्धार्थ की राजकीय सत्ता साधारण ही होगी, परन्तु वैभव और कुलीनता ऊँचे दर्जे की होनी चाहिए। क्योंकि उसके बिना वैशाली के अधिपति चेटक की बहिन के साथ वैवाहिक सम्बन्ध होना सम्भव नहीं था।

गृह-जीवन—

वर्धमान का बाल्यकाल बहुतांश में क्रीड़ाओं में व्यतीत होता है। परन्तु जब वह अपनी उम्र में आते हैं और विवाहकाल प्राप्त होता है तब वह वैवाहिक जीवन की ओर अरुचि प्रकट करते हैं। इससे तथा भावी तीव्र वैराग्यमय जीवन से यह स्पष्ट दिखलाई देता है कि उनके हृदय में त्याग के बीज जन्मसिद्ध थे। उनके माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्यपरम्परा के अनुयायी थे। यह परम्परा निर्ग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध थी और साधारण तौर पर इस परम्परा में त्याग और तप की भावना प्रबल थी। भगवान् का अपने कुलधर्म के परिचय में आना और उस धर्म के आदर्शों का उसके सुसंस्कृत मन को आकर्षित करना सर्वथा सम्भव है। एक ओर जन्मसिद्ध वैराग्य के बीज और दूसरी ओर कुलधर्म के त्याग और तपस्या के आदर्शों का प्रभाव; इन दोनों कारणों से योग्य अवस्था को प्राप्त होते ही वर्धमान ने अपने जीवन का कुछ तो ध्येय निश्चित किया ही होगा और वह ध्येय भी कौन सा? 'धार्मिक जीवन'। इस कारण यदि विवाह की ओर अरुचि हुई हो तो वह साहजिक है। फिर भी जब माता-पिता विवाह के लिए बहुत आग्रह करते हैं, तब वर्धमान अपना निश्चय शिथिल कर देते हैं और केवल माता-पिता के चित्त को सन्तोष देने के लिये वैवाहिक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेते हैं। इस घटना से तथा बड़े भाई को प्रसन्न रखने के लिये गृहवास की अवधि बढ़ा देने की घटना से वर्धमान के स्वभाव के दो तत्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। एक तो बड़े-बूढ़ों के प्रति

बहुमान और दूसरे मौके को देख कर मूल सिद्धान्त में बाधा न पड़ने देते हुए, समझौता कर लेने का औदार्य्य। यह दूसरा तत्त्व साधक और उपदेशक जीवन में किस प्रकार काम करता है, यह हम आगे चलकर देखेंगे। जब माता-पिता का स्वर्गवास हुआ, तब वर्धमान की उम्र २८ वर्ष की थी। विवाह के समय की अवस्था का उल्लेख नहीं मिलता। माता-पिता के स्वर्गवास के बाद वर्धमान ने गृहत्याग की पूरी तैयारी कर ली थी; परन्तु इससे ज्येष्ठ बन्धु को कष्ट होते देख गृह-जीवन को दो वर्ष और बढ़ा दिया। परन्तु इसलिये कि त्याग का निश्चय कायम रहे, गृहवासी होते हुए भी आपने दो वर्ष तक त्यागियों की भाँति ही जीवन व्यतीत किया।

साधक जीवन—

तीस वर्ष का तरुण क्षत्रिय-पुत्र वर्धमान जब गृहत्याग करता है, तब उसका आन्तर और बाह्य दोनों जीवन एकदम बदल जाते हैं। वह सुकुमार राजपुत्र अपने हाथों केश का लुंचन करता है और तमाम वैभवों को छोड़कर एकाकी जीवन और लघुता स्वीकार करता है। उसके साथ ही यावज्जीवन सामायिक चारित्र (आजीवन समभाव से रहने का नियम) अंगीकार करता है, और इसका सोलहों आने पालन करने के लिए भीषण प्रतिज्ञा करता है—

"चाहे दैविक, मानुषिक अथवा तिर्यक् जातीय, किसी भी प्रकार की विघ्न—बाधाएँ क्यों न आवें, मैं सबको बिना किसी दूसरे की मदद लिये, समभाव से सहन करूँगा।"

इस प्रतिज्ञा से कुमार के वीरत्व और उसके परिपूर्ण निर्वाह से उसके महान् वीरत्व का परिचय मिलता है। इसी से वह साधक जीवन में "महावीर" की ख्याति को प्राप्त करता है। महावीर के साधना विषयक आचारांग के प्राचीन और प्रामाणिक वर्णन से, उनके जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं से तथा अब तक उनके नाम से प्रचलित सम्प्रदाय की विशेषता से, यह जानना कठिन नहीं है कि महावीर को किस तत्त्व की साधना करनी थी, और उस साधनों के लिए उन्होंने मुख्यतः कौन से साधन पसन्द किये थे। महावीर अहिंसा-तत्त्व की साधना करना चाहते थे, उसके लिए संयम और

तप यह दो साधन उन्होंने पसन्द किये। उन्होंने यह विचार किया कि संसार में जो बलवान् होता है, वह निर्बल के सुख और साधन, एक डाकू की तरह छीन लेता है। यह अपहरण करने की वृत्ति अपने माने हुए सुख के राग से, खास करके कायिक सुखशीलता से पैदा होती है। यह वृत्ति ही ऐसी है कि इससे शान्ति और समभाव का वायु-मण्डल कलुषित हुए बिना नहीं रहता है। प्रत्येक मनुष्य को अपना सुख और अपनी सुविधा इतने कीमती मालूम होते हैं कि उसकी दृष्टि में दूसरे अनेक जीवधारियों की सुविधा का कुछ मूल्य ही नहीं होता। इसलिए प्रत्येक मनुष्य यह प्रमाणित करने की कोशिश करता है कि जीव, जीव का भक्षण है "जीवो जीवस्य जीवनम्।" निर्बल को बलवान् का पोषण करके अपनी उपयोगिता सिद्ध करनी चाहिये। सुख के राग से ही बलवान् लोग निर्बल प्राणियों के जीवन की आहुति देकर उसके द्वारा अपने परलोक का उत्कृष्ट मार्ग तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सुख की मिथ्या भावना और संकुचित वृत्ति के ही कारण व्यक्तियों और समूहों में अन्तर बढ़ता है, शत्रुता की नींव पड़ती है और इसके फलस्वरूप निर्बल बलवान् होकर बदला लेने का निश्चय तथा प्रयत्न करते हैं और बदला लेते भी हैं। इस तरह हिंसा और प्रतिहिंसा का ऐसा मलीन वायुमण्डल तैयार हो जाता है कि लोग संसार के सुख को स्वयं ही नर्क बना देते हैं। हिंसा के इस भयानक स्वरूप के विचार से महावीर ने अहिंसा-तत्त्व में ही समस्त धर्मों का, समस्त कर्त्तव्यों का, प्राणीमात्र की शान्ति का मूल देखा। उन्हें स्पष्ट रूप से दिखाई दिया कि यदि अहिंसा-तत्त्व सिद्ध किया जा सके, तो ही जगत् में सच्ची शान्ति फैलाई जा सकती है। यह विचार कर उन्होंने कायिक सुख की समता से वैर-भाव को रोकने के लिए तप प्रारम्भ किया, और अधैर्य जैसे मानसिक दोष से होने वाली हिंसा को रोकने के लिए संयम का अवलम्बन किया।

संयम का सम्बन्ध मुख्यतः मन और वचन के साथ होने के कारण उसमें ध्यान और मौन का समावेश होता है। महावीर के समस्त साधक जीवन में संयम और तप यही दो बातें मुख्य हैं और

उन्हें सिद्ध करने के लिये उन्होंने कोई १२ वर्षों तक जो प्रयत्न किया और उसमें जिस तत्परता और अप्रमाद का परिचय दिया, वैसा आज तक की तपस्या के इतिहास में किसी व्यक्ति ने दिया हो यह नहीं दिखाई देता। कितने ही लोग महावीर के तप को देह-दुःख और देह-दमन कह कर उसको अवहेलना करते हैं। परन्तु यदि वे सत्य तथा न्याय के लिये महावीर के जीवन पर गहराई से विचार करेंगे तो यह मालूम हुए बिना न रहेगा कि, महावीर का तप शुष्क देह-दमन नहीं था। वह संयम और तप दोनों पर समान रूप से जोर देते थे। वह जानते थे कि यदि तप के अभाव से सहनशीलता कम हुई तो दूसरों की सुख-सुविधा की आहुति देकर अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने की लालसा बढ़ेगी और उसका फल यह होगा कि संयम न रह पावेगा। इसी प्रकार संयम के अभाव में कोरा तप भी, पराधीन प्राणी पर अनिच्छापूर्वक आ पड़े देह-कष्ट की तरह निरर्थक है।

ज्यों-ज्यों संयम और तप की उत्कटता से महावीर अहिंसातत्त्व के अधिकाधिक निकट पहुंचते गये, त्यों-त्यों उनकी गम्भीर शान्ति बढ़ने लगी और उसका प्रभाव आसपास के लोगों पर अपने-आप होने लगा। मानस-शास्त्र के नियम के अनुसार एक व्यक्ति के अन्दर बलवान् होने वाली वृत्ति का प्रभाव आस-पास के लोगों पर जान-अनजान में हुए बिना नहीं रहता।

इस साधकजीवन में एक उल्लेख-योग्य ऐतिहासिक घटना घटती है। वह यह है कि महावीर की साधना के साथ गोशालक नामक एक व्यक्ति प्रायः ६ वर्ष व्यतीत करता है और फिर उनसे अलग हो जाता है। आगे चल कर यह उनका प्रतिपक्षी होता है और आजीवक सम्प्रदाय का नायक बनता है। आज यह कहना कठिन है कि दोनों किस हेतु से साथ हुए और क्यों अलग हुए, परन्तु एक प्रसिद्ध आजीवक सम्प्रदाय के नायक और तपस्वी महावीर का दीर्घ काल तक साहचर्य सत्यशोधकों के लिये अर्थसूचक अवश्य है। १२ वर्ष की कठोर और दीर्घ साधना के पश्चात् जब उन्हें अपने अहिंसा तत्त्व के सिद्ध हो जाने की पूर्ण प्रतीति हुई, तब वे अपना जीवन-

क्रम बदलते हैं। अहिंसा का सार्वभौमधर्म उस दीर्घ-तपस्वी में परिप्लुत हो गया था, अब उनके सार्वजनिक जीवन से कितनी ही भव्य आत्माओं में परिवर्तन हो जाने की पूर्ण सम्भावना थी। मगध और विदेह देश का पूर्वकालीन मलीन वायु-मण्डल धीरे-धीरे शुद्ध होने लगा था, क्योंकि उसमें उस समय अनेक तपस्वी और विचारक लोक-हित की आकांक्षा से प्रकाश में आने लगे थे। इसी समय दीर्घ तपस्वी भी प्रकाश में आये।

उपदेशक जीवन—

श्रमण भगवान् का ४३ से ७२ वर्ष तक का यह दीर्घ जीवन सार्वजनिक सेवा में व्यतीत होता है। इस समय में उनके द्वारा किये गये मुख्य कार्यों की नामावली इस प्रकार है—

(१) जाति-पाँति का तनिक भी भेद रखे बिना हर एक के लिये, शूद्रों के लिये भी, भिक्षु-पद और गुरु-पद का रास्ता खोलना। श्रेष्ठता का आधार जन्म नहीं बल्कि गुण और गुणों में भी पवित्र जीवन की महत्ता स्थापित करना।

(२) पुरुषों की तरह स्त्रियों के विकास के लिये भी पूरी स्वतन्त्रता और विद्या तथा आचार दोनों में स्त्रियों की पूर्ण योग्यता को मानना। उनके लिये गुरु-पद का आध्यात्मिक मार्ग खोल देना।

(३) लोक-भाषा में तत्त्वज्ञान और आचार का उपदेश करके केवल विद्वद्गम्य संस्कृत भाषा का मोह घटाना और योग्य अधिकारी के लिये ज्ञान-प्राप्ति में भाषा का अन्तराय दूर करना।

(४) ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिये होने वाले यज्ञ आदि कर्मकाण्डों की अपेक्षा संयम तथा तपस्या के स्वावलंबी तथा पुरुषार्थ-प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित करना और अहिंसा-धर्म में प्रीति उत्पन्न करना।

(५) त्याग और तपस्या के नाम पर रूढ़ शिथिलाचार के स्थान पर सच्चे त्याग और सच्ची तपस्या की प्रतिष्ठा करके भोग की जगह योग के महत्त्व का वायु-मंडल चारों ओर उत्पन्न करना।

श्रमण भगवान् के शिष्यों के त्यागी और गृहस्थ ये दो भाग थे। उनके त्यागी भिक्षुक शिष्य १४००० और भिक्षुक शिष्याएँ

३६००० होने का उल्लेख मिलता है। इसके सिवाय लाखों की संख्या में गृहस्थ शिष्यों के होने का भी उल्लेख है। त्यागी और गृहस्थ इन दोनों वर्गों में चारों वर्णों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। इन्द्रभूति आदि ११ गणधर ब्राह्मण थे। उदायी, मेघकुमार आदि अनेक क्षत्रिय भी भगवान् के शिष्य हुए थे। शालिभद्र इत्यादि वैश्य और महतारज तथा हरिकेशी जैसे अतिशूद्र भी भगवान् की पवित्र दीक्षा का पालन कर उच्च पथ को पहुंचे थे। साध्वियों में चन्दनबाला क्षत्रिय-पुत्री थीं, देवानन्दा ब्राह्मणी थीं। गृहस्थों में उनके मामा वैशालीपति चेटक, राजगृही के महाराजा श्रेणिक (बिम्बसार) और उनका पुत्र कोणिक (अजातशत्रु) आदि अनेक क्षत्रिय भूपति थे। आनन्द, कामदेव आदि प्रधान दस श्रावकों में शकडाल कुम्हार जाति का था और शेष ६ वैश्य खेती और पशु-पालन पर निर्वाह करने वाले थे। ढंक कुम्हार होते हुए भी भगवान् का समझदार और दृढ़ उपासक था। खन्दक, अम्बड़ आदि अनेक परिव्राजक तथा सोमील आदि अनेक विद्वान् ब्राह्मणों ने श्रमण भगवान् का अनुसरण किया था। गृहस्थ उपासिकाओं में रेवती, सुलसा और जयन्ती के नाम प्रख्यात हैं। जयन्ती जैसी भक्त थी वैसी ही विदुषी भी थी। आजादी के साथ भगवान् से प्रश्न करती और उत्तर सुनती थी। भगवान् ने उस समय स्त्रियों की योग्यता किस प्रकार आँकी, उसका यह उदाहरण है। महावीर के समकालीन धर्मप्रवर्तकों में आजकल कुछ थोड़े ही लोगों के नाम मिलते हैं—तथागत गौतमबुद्ध, पूर्ण कश्यप, संजय वेलट्ठिपुत्त, पकुध कच्चायन, अजित केसकम्बलि और मंखली गोशालक।

समझौता—

श्रमण भगवान् के पूर्व से ही जैन-सम्प्रदाय चला आ रहा था, जो निर्ग्रन्थ के नाम से विशेष प्रसिद्ध था। उस समय प्रधान निर्ग्रन्थ केशीकुमार आदि थे। वे सब अपने को श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी मानते थे। वे कपड़े पहिनते थे और सो भी तरह-तरह के रंग के। इस प्रकार वह चातुर्याम धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार महाव्रतों का पालन करते थे।

श्रमण भगवान् ने इस परम्परा के खिलाफ अपने व्यवहार से दो बातें नई प्रचलित कीं—एक अचेल धर्म, दूसरी ब्रह्मचर्य (स्त्री-विरमण)। पहिले की पम्परा में वस्त्र और स्त्री के सम्बन्ध में अवश्य शिथिलता आ गई होगी और उसे दूर करने के लिये अचेल धर्म और स्त्री-विरमण को निर्ग्रन्थत्व में स्थान दिया गया। अपरिग्रह व्रत से स्त्री-विरमण को अलग करके चार के बदले पाँच महाव्रतों के पालन करने का नियम बनाया। श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के सुयोग्य नेताओं ने इस संशोधन को स्वीकृत किया और प्राचीन तथा नवीन दोनों भिक्षुओं का सम्मेलन हुआ। कितने ही विद्वानों का यह मत है कि इस समझौते में वस्त्र रखने तथा न रखने का जो मतभेद शान्त हुआ था वह आगे चलकर फिर पक्षपात का रूप धारण करके श्वेताम्बर, दिगम्बर सम्प्रदाय के रूप में धधक उठा। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाले विद्वानों को श्वेताम्बर-दिगम्बर में कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं जान पड़ता; परन्तु आजकल तो सम्प्रदाय-भेद की अस्मिता ने दोनों शाखाओं में नाशकारिणी अग्नि उत्पन्न कर दी है। इतना ही नहीं बल्कि थोड़े-थोड़े अभिनिवेश के कारण आज दूसरे भी अनेक छोटे-बड़े भेद भगवान् के अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) के नीचे खड़े हो गये हैं।

उपदेश का रहस्य—

श्रमण भगवान् के समग्र जीवन और उपदेश का संक्षिप्त रहस्य दो बातों में आ जाता है। आचार में पूर्ण अहिंसा और तत्त्वज्ञान में अनेकान्त। उनके सम्प्रदाय के आचार को और शास्त्र के विचार को इन तत्त्वों का ही भाष्य समझिये। वर्तमान काल के विद्वानों का यही निष्पक्ष मत है।

विपक्षी—

श्रमण भगवान् के शिष्यों में उनसे अलग होकर उनके खिलाफ विरोधी पन्थ प्रचलित करने वाले उनके जामाता क्षत्रिय-पुत्र जमाली थे। इस समय तो उनकी स्मृतिमात्र जैन ग्रन्थों में है। दूसरे प्रतिपक्षी उनके पूर्व सहचर गोशालक थे। उनका आजीवक पन्थ रूपान्तर पाकर आज भी हिन्दुस्तान में मौजूद है। भगवान् महावीर

के जीवन का मुख्य भाग विदेह और मगध में व्यतीत हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि वे अधिक से अधिक यमुना के किनारे तक आये होंगे। श्रावस्ती, कौशांबी, ताम्रलिप्त, चम्पा और राजगृही इन शहरों में वह बार-बार आते-जाते और रहते थे।

उपसंहार—

श्रमण भगवान् महावीर की तपस्या और उनके शान्तिपूर्ण दीर्घ-जीवन और उपदेश से उस समय मगध, विदेह, काशी, कोशल और दूसरे कितने ही प्रदेशों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में बड़ी क्रान्ति हो गई थी। उसका प्रमाण केवल शास्त्र के पन्नों में ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान के मानसिक जगत् में अब तक जागृत अहिंसा और तप का स्वाभाविक अनुराग है। आज से २४५९ वर्ष पूर्व राजगृही के पास पावापुरी नामक पवित्र स्थान में कार्त्तिक कृष्णा अमावस की रात को इस तपस्वी का ऐहिक जीवन पूरा हुआ (निर्वाण हुआ) और उनके स्थापित संघ का भार उनके प्रधान-शिष्य सुधर्मा स्वामी पर आ पड़ा।

ई. स. १९३३]

———

धर्मवीर महावीर और कर्मवीर कृष्ण

दैवीपूजा में से मनुष्यपूजा का क्रमिक विकास—

अन्य देशों और प्रजा की भाँति इस देश में और आर्य-प्रजा में भी प्राचीन काल से क्रियाकाण्ड और वहमों के राज्य के साथ थोड़ा बहुत आध्यात्मिक भाव मौजूद था। वैदिक मंत्र-युग और ब्राह्मणयुग के विस्तृत और जटिल क्रियाकाण्ड जब यहाँ होते थे तब भी आध्यात्मिक चिन्तन, तप का अनुष्ठान और भूत-दया की भावना, ये तत्त्व मौजूद थे, यद्यपि थे वे अल्प मात्रा में। धीरे-धीरे सद्‌गुणों का महत्त्व बढ़ता गया और क्रियाकाण्ड तथा वहमों का राज्य घटता गया। प्रजा के मानस में, ज्यों-ज्यों सद्‌गुणों की प्रतिष्ठा स्थान प्राप्त करती गई, त्यों-त्यों उसके मानस से क्रियाकाण्ड और वहम हटते गये। क्रियाकाण्ड और वहमों की प्रतिष्ठा के साथ हमेशा अदृश्य शक्ति का सम्बन्ध जुड़ा रहता है। जबतक कोई अदृश्य शक्ति मानी या मनाई न जावे (फिर भले ही वह देव, दानव, दैत्य, भूत, पिशाच या किसी भी नाम से कही जाय) तब तक क्रियाकाण्ड और वहम न चल सकते हैं और न जीवित ही रह सकते हैं। अतएव क्रियाकाण्ड और वहमों के साम्राज्य के समय, उनके साथ देवपूजा अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई हो, यह स्वाभाविक है। इसके विपरीत सद्‌गुणों की उपासना और प्रतिष्ठा के साथ किसी अदृश्य शक्ति का नहीं वरन् प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली मनुष्य-व्यक्ति का सम्बन्ध होता है। सद्‌गुणों की उपासना करने वाला या दूसरों के समक्ष उस आदर्श को उपस्थित करने वाला व्यक्ति, किसी विशिष्ट मनुष्य को ही अपना आदर्श मानकर उसका अनुकरण करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार सद्‌गुणों की प्रतिष्ठा की वृद्धि के साथ ही साथ अदृश्य देवपूजा का स्थान दृश्य मनुष्यपूजा को प्राप्त होता है।

मनुष्यपूजा की प्रतिष्ठा—

यद्यपि सद्‌गुणों की उपासना और मनुष्यपूजा का पहले से ही विकास होता जा रहा था, तथापि भगवान् महावीर और बुद्ध इन

दोनों के समय में इस विकास को असाधारण विशेषता प्राप्त हुई, जिसके कारण क्रियाकाण्ड और वहमों के किलों के साथ साथ उसके अधिष्ठायक अदृश्य देवों की पूजा को भी तीव्र आघात पहुँचा। भगवान् महावीर और बुद्ध का युग सचमुच मनुष्यपूजा का युग था। इस युग में सैकड़ों-हजारों स्त्री-पुरुष क्षमा, सन्तोष, तप, ध्यान आदि सद्गुणों के संस्कार प्राप्त करने के लिये अपने जीवन को अर्पण करते हैं और इन गुणों की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए अपने श्रद्धास्पद महावीर और बुद्ध जैसे मनुष्य-व्यक्तियों की, ध्यान या मूर्त्ति द्वारा पूजा करते हैं। इस प्रकार मानवपूजा के भाव की बढ़ती के साथ ही देवमूर्त्ति का स्थान विशेषतः मनुष्यमूर्त्ति को प्राप्त होता है।

महावीर और बुद्ध जैसे तपस्वी, त्यागी और ज्ञानी पुरुषों द्वारा सद्गुणों की उपासना को वेग मिला और उसका स्पष्ट प्रभाव क्रियाकाण्ड-प्रधान ब्राह्मण-संस्कृति पर पड़ा। वह यह कि जो ब्राह्मण-संस्कृति एक बार देव, दानव और दैत्यों की भावना एवं उपासना में मुख्य रूप से मशगूल थी, उसने भी मनुष्यपूजा को स्थान दिया। अब जनता अदृश्य देव के बदले किसी महान् विभूति-रूप मनुष्य को पूजने, मानने और उसका आदर्श अपने जीवन में उतारने के लिये तत्पर हुई। इस तत्परता का उपशमन करने के लिये ब्राह्मण-संस्कृति ने राम और कृष्ण के मानवीय आदर्श की कल्पना की और एक मनुष्य के रूप में उनकी पूजा प्रचलित हो गई। महावीर-बुद्ध युग से पहले राम और कृष्ण की, आदर्श मनुष्य के रूप में पूजा होने का कोई भी चिह्न शास्त्रों में नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत महावीर-बुद्ध युग के पश्चात् या उस युग के साथ ही साथ राम और कृष्ण की मनुष्य के रूप में पूजा होने के हमें स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। इससे तथा अन्य साधनों से यह मानने क लिये पर्याप्त कारण हैं कि मानवीय पूजा की मजबूत नींव महावीर-बुद्ध युग में डाली गई और देवपूजकवर्ग में भी मनुष्यपूजा के विविध प्रकार और सम्प्रदाय इसी युग में प्रारम्भ हुए।

मनुष्यपूजा में दैवीभाव का मिश्रण—

लाखों-करोड़ों मनुष्यों के मन में सैकड़ों और हजारों वर्षों

से जो संस्कार रूढ़ हो चुके हों, उन्हें एकाध प्रयत्न से, थोड़े से समय में बदल देना संभव नहीं। इस प्रकार अलौकिक देवमहिमा, दैवी चमत्कार और देवपूजा की भावना के संस्कार प्रजा के मानस में से एकदम न निकल सके थे। इन्हीं संस्कारों के कारण ब्राह्मण-संस्कृति ने यद्यपि राम और कृष्ण जैसे मनुष्यों को आदर्श के रूप में उपस्थित करके उनकी पूजा-प्रतिष्ठा शुरू की, तथापि प्रजा की मनोवृत्ति ऐसी न बन सकी थी कि वह दैवीभाव के सिवाय और कहीं संतुष्ट हो सके। इस कारण ब्राह्मण संस्कृति के तत्कालीन अगुवा विद्वानों ने, यद्यपि राम और कृष्ण को एक मनुष्य के रूप में चित्रित किया, वर्णित किया, तो भी उनके आन्तरिक और बाह्य जीवन के साथ अदृश्य दैवी कार्य का सम्बन्ध भी जोड़ दिया। इसी प्रकार महावीर और बुद्ध आदि के उपासकों ने उन्हें शुद्ध मनुष्य के स्वरूप में ही चित्रित किया, फिर भी उनके जीवन के किसी न किसी भाग के साथ अलौकिक दैवी-सम्बन्ध भी जोड़ दिया। ब्राह्मण-संस्कृति आत्मतत्त्व को एक और अखण्ड मानती है अतः उसने राम और कृष्ण के जीवन का ऐसा चित्रण किया जो अपने मन्तव्य से मेल रखने वाला और साथ ही स्थूल लोगों की दैवी पूजा की भावना को भी सन्तुष्ट करने वाला हो। उसने परमात्मा विष्णु के ही राम और कृष्ण के रूप में अवतार लेने का वर्णन किया। परन्तु श्रमण संस्कृति आत्मभेद को स्वीकार करती है और कर्मवादी है, अतः उसने अपने तत्त्वज्ञान के अनुरूप ही अपने उपास्य देवों का वर्णन किया और जनता की दैवीपूजा की आकांक्षा मिटाने के लिये अनुचर और भक्तों के रूप में देवों का सम्बन्ध महावीर और बुद्ध आदि के साथ जोड़ दिया। इस प्रकार दोनों संस्कृतियों का अन्तर स्पष्ट है। एक में मनुष्यपूजा का प्रवेश हो जाने पर भी दिव्य अंश ही मनुष्य के रूप में अवतरित होता है अर्थात् आदर्श मनुष्य अलौकिक दिव्य शक्ति का प्रतिनिधि बनता है और दूसरी संस्कृति में मनुष्य अपने सद्गुण-प्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्न से स्वयमेव देव बनता है और जनता में माने जाने वाले देव उस आदर्श मनुष्य के सेवक मात्र हैं और उसके भक्त या अनुचर बनकर उसके पीछे-पीछे फिरते हैं।

चार महान् आर्य-पुरुष—

महावीर और बुद्ध की ऐतिहासिकता निर्विवाद है—उसमें सन्देह को जरा भी अवकाश नहीं है, जब कि राम और कृष्ण के विषय में इससे उलटी ही बात है। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में जैसे प्रमाणों की आवश्यकता है वैसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अतः इनके सम्बन्ध में परस्पर विरोधी अनेक कल्पनाएँ फैल रही हैं। इतना होने पर भी प्रजा के मानस में राम और कृष्ण का व्यक्तित्व इतना अधिक व्यापक और गहरा अंकित है कि प्रजा के विचार से तो ये दोनों महान् पुरुष सच्चे ऐतिहासिक ही हैं। विद्वान् और संशोधक लोग उनकी ऐतिहासिकता के विषय में भले ही वादविवाद और ऊहापोह किया करें, उसका परिणाम भले ही कुछ भी हो, फिर भी जनता के हृदय पर इनके व्यक्तित्वकी जो छाप बैठी हुई है, उसे देखते हुए तो यह कहना ही पड़ता है कि ये दोनों महापुरुष जनता के हृदय के हार हैं। इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि आर्यप्रजा में मनुष्य के रूप में पूजित चार ही पुरुष हमारे सामने उपस्थित होते हैं और आर्यधर्म की वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों शाखाओं के पूज्य पुरुष उक्त चार ही हैं। यही चारों पुरुष भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न रूप से पूजे जाते हैं।

चारों की संक्षिप्त तुलना—

राम और कृष्ण एवं महावीर और बुद्ध ये दोनों युगल कहिये या चारों महान् पुरुष कहिये, क्षत्रिय जातीय हैं। चारों के जन्मस्थान उत्तर-भारत में हैं और सिवाय रामचन्द्रजी के, किसी का भी प्रवृत्तिक्षेत्र दक्षिण भारत नहीं बना।

राम और कृष्ण का आदर्श एक प्रकार का है और महावीर तथा बुद्ध का दूसरे प्रकार का। वैदिकसूत्र और स्मृतियों में वर्णित वर्णाश्रम धर्म के अनुसार राज्यशासन करना, गोब्राह्मण का प्रतिपालन करना, उसी के अनुसार न्याय-अन्याय का निर्णय करना और इसी प्रकार न्याय का राज्य स्थापित करना यह राम और कृष्ण के उपलब्ध जीवन-वृत्तान्तों का आदर्श है। इसमें भोग है, युद्ध

है और तमाम दुनियावी प्रवृत्तियाँ हैं। परन्तु यह प्रवृत्ति-चक्र जन-साधारण को नित्य के जीवन-क्रम में पदार्थपाठ देने के लिये है। महावीर और बुद्ध के जीवनवृत्तान्त इससे बिलकुल भिन्न प्रकार के हैं। इनमें न भोग की धमाचौकड़ी है और न युद्ध की तैयारी ही। इनमें तो सबसे पहले अपने जीवन के शोधन का ही प्रश्न उपस्थित होता है और उनके अपने जीवन की शुद्धि होने के पश्चात् ही, उसके फलस्वरूप प्रजा को उपयोगी होने की बात है। राम और कृष्ण के जीवन में सत्त्वसंशुद्धि होने पर भी रजोगुण मुख्य रूप से काम करता है और महावीर तथा बुद्ध के जीवन में राजस अंश होने पर भी मुख्य रूप से सत्त्वसंशुद्धि काम करती है। अतएव पहले आदर्श में अन्तर्मुखता होने पर भी मुख्य रूप से बहिर्मुखता प्रतीत होती है और दूसरे में बहिर्मुखता होने पर भी मुख्य रूप से अन्तर्मुखता का प्रतिभास होता है। इसी बात को यदि दूसरे शब्दों में कहें तो यह कह सकते हैं कि एक आदर्श कर्म-चक्र का है और दूसरा धर्म-चक्र का है। इन दोनों विभिन्न आदर्शों के अनुसार ही इन महापुरुषों के संप्रदाय स्थापित हुए हैं। उनका साहित्य भी उसी प्रकार निर्मित हुआ है और प्रचार में आया है। उनके अनुयायीवर्ग की भावनाएँ भी इस आदर्श के अनुसार गढ़ी गई हैं और उनके मत्थे मढ़े हुए तत्त्वज्ञान में इसी प्रवृत्ति-निवृत्ति के चक्र को लक्ष्य करके सारा तंत्र संगठित किया गया है। उक्त चारों ही महान् पुरुषों की मूर्त्तियाँ देखिये, उनकी पूजा के प्रकारों पर नजर डालिये या उनके मंदिरों की रचना तथा स्थापत्य का विचार कीजिये, तो भी उनमें इस प्रवृत्ति-चक्र और निवृत्ति-चक्र की भिन्नता साफ दिखाई देगी। उक्त चार महान् पुरुषों में से यदि बुद्ध को अलग कर दें तो सामान्यतया यह कह सकते हैं कि बाकी के तीनों पुरुषों की पूजा, उनके सम्प्रदाय तथा उनका अनुयायीवर्ग भारतवर्ष में ही विद्यमान है; जब कि बुद्ध की पूजा, उनका सम्प्रदाय तथा अनुयायीवर्ग एशिया-व्यापी बना है। राम और कृष्ण के आदर्शों का प्रचारक-वर्ग पुरोहित होने के कारण गृहस्थ है जब कि महावीर और बुद्ध के आदर्शों का प्रचारक-वर्ग गृहस्थ नहीं, त्यागी है। राम और कृष्ण के उपासकों में हजारों संन्यासी हैं, फिर भी वह संस्था महावीर

एवं बुद्ध के भिक्षुसंघ की भाँति तन्त्रबद्ध या व्यवस्थित नहीं है। गुरु पदवी को धारण करने वाली हजारों स्त्रियाँ आज भी महावीर और बुद्ध के भिक्षुसंघ में मौजूद हैं, जब कि राम और कृष्ण के उपासक संन्यासीवर्ग में वह वस्तु नहीं है। राम और कृष्ण के मुख से साक्षात् उपदेश किये हुए किसी शास्त्र के होने के प्रमाण नहीं हैं जब कि महावीर और बुद्ध के मुख से साक्षात् उपदिष्ट थोड़े बहुत अंश अब भी निर्विवाद रूप से मौजूद हैं। राम और कृष्ण के मत्थे मढ़े हुए शास्त्र संस्कृत-भाषा में हैं, जब कि महावीर और बुद्ध के उपदेश तत्कालीन प्रचलित लोक-भाषा में हैं।

तुलना की मर्यादा और उसके दृष्टिबिन्दु—

हिन्दुस्तान में सार्वजनिक पूजा पाये हुए ऊपर के चार महापुरुषों में से किसी भी एक के जीवन के विषय में विचार करना हो या उनके सम्प्रदाय, तत्त्वज्ञान अथवा कार्यक्षेत्र का विचार करना हो तो अवशेष तीनों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली उस-उस वस्तु का विचार भी साथ ही करना चाहिए क्योंकि इस समग्र भारत में एक ही जाति और एक ही कुटुम्ब में अकसर चारों पुरुषों की या उनमें से अनेक पुरुषों की पूजा या मान्यता प्रचलित थी और अब भी है। अतएव इन पूज्य पुरुषों के आदर्श मूलतः भिन्न-भिन्न होने पर भी बाद में उनमें आपस में बहुत-सा लेन देन हुआ है और एक दूसरे का एक दूसरे पर बहुत प्रभाव पड़ा है। वस्तुस्थिति इस प्रकार की होने पर भी यहाँ पर सिर्फ धर्मवीर महावीर के जीवन के साथ कर्मवीर कृष्ण के जीवन की तुलना करने का ही विचार किया गया है। इन दोनों महान् पुरुषों के जीवन-प्रसंगों की तुलना भी उपर्युक्त मर्यादा के भीतर रहकर ही करने का विचार है। समग्र जीवन-व्यापी तुलना एवं चारों पुरुषों की एक साथ विस्तृत तुलना करने के लिए जिस समय और स्वास्थ्य की आवश्यकता है, उसका इस समय अभाव है। अतएव यहाँ बहुत ही संक्षेप में तुलना की जायगी। महावीर के जन्मक्षण से लेकर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक के प्रसंगों को कृष्ण के जन्म से लेकर कंस-वध तक की कुछ घटनाओं के साथ मिलान किया जायगा।

यह तुलना मुख्य रूप से तीन दृष्टि-बिन्दुओं को लक्ष्य करके की जायगी—

(१) प्रथम तो यह फलित करना कि दोनों के जीवन की घटनाओं में क्या संस्कृतिभेद है ?

(२) दूसरे, इस बात की परीक्षा करना कि इस घटना वर्णन का एक दूसरे पर कुछ प्रभाव पड़ा है या नहीं ? और इससे कितना परिवर्तन और विकास सिद्ध हुआ है ?

(३) तीसरे, यह कि जनता में धर्मभावना जागृत रखने और सम्प्रदाय का आधार सुदृढ़ बनाने के लिये कथा-ग्रन्थों एवं जीवन-वृत्तान्तों में प्रधान रूप से किन साधनों का उपयोग किया जाता था, इसका पृथक्करण करना और उसके औचित्य का विचार करना।

परसम्प्रदायों के शास्त्रों में उपलब्ध निर्देश एवं वर्णन—

ऊपर कहे हुए दृष्टिबिन्दुओं से कतिपय घटनाओं का उल्लेख करने से पूर्व एक बात यहाँ खास उल्लेखनीय है। वह विचारकों के लिये कौतूहलवर्द्धक है, इतना ही नहीं वरन् अनेक ऐतिहासिक रहस्यों के उद्घाटन और विश्लेषण के लिये उनसे सतत और अवलोकनपूर्ण मध्यस्थ प्रयत्न की अपेक्षा भी रखती है। वह यह है—बौद्धपिटकों में ज्ञातृपुत्र के रूपमें भगवान् महावीर का अनेकों बार स्पष्ट निर्देश पाया जाता है परन्तु राम और कृष्ण में से किसी का भी निर्देश नहीं है। पीछे की बौद्ध जातकों में (देखिये दशरथ जातक नं० ४६१) राम और सीता की कुछ कथा आयी है परन्तु वह वाल्मीकि के वर्णन से एकदम भिन्न प्रकार की है। उसमें सीता को राम की बहिन कहा गया है। कृष्ण की कथा तो किसी भी बौद्धग्रन्थ में आज तक मेरे देखने में नहीं आयी। किन्तु जैनशास्त्रों में राम और कृष्ण—इन दोनों की जीवनकथाओं ने काफी स्थान घेरा है। आगम माने जाने वाले और अन्य आगम ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीन गिने जाने वाले अंग-साहित्य में, रामचन्द्र जी की कथा तो नहीं है, फिर भी कृष्ण की कथा दो अंगों–ज्ञाता और अंतगड—में स्पष्ट और विस्तृत रूप से आती है। आगम ग्रन्थों में स्थान न पाने वाली रामचन्द्र जी की कथा भी पिछले श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों के प्राकृत-संस्कृत के कथा-साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त करती हैं। जैनसाहित्य में वाल्मीकि रामायण की जगह जैन-रामायण तक बन जाती है यह तो स्पष्ट है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर—दोनों के

साहित्य में राम और कृष्ण की कथा ब्राह्मण-साहित्य जैसी हो ही नहीं सकती, फिर भी इन कथाओं और इनके वर्णन की जैन-शैली को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि ये कथाएँ मूलतः ब्राह्मण-साहित्य की ही होनी चाहिये और लोकप्रिय होने पर उन्हें जैन-साहित्य में जैन दृष्टि से स्थान दिया गया होना चाहिये। इस विषय को हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जैन-संस्कृति से अपेक्षाकृत अधिक भिन्न ब्राह्मण-संस्कृति के माननीय राम और कृष्ण ने जैन-साहित्य में जितना स्थान रोका है, इससे हजारवें भाग जितना भी स्थान भगवान् महावीर के समकालीन और उनकी संस्कृति से अपेक्षाकृत अधिक नजदीक तथागत बुद्ध के वर्णन को प्राप्त नहीं हुआ। बुद्ध का स्पष्ट या अस्पष्ट नाम निर्देश केवल आगम ग्रन्थों में एकाध जगह आता है (यद्यपि उनके तत्त्वज्ञान की सूचनाएँ विशेष प्रमाण में मिलती हैं)। यह तो हुआ बौद्ध और जैन-कथा ग्रन्थों में राम और कृष्ण की कथा के विषय में; अब हमें यह भी देखना चाहिये कि ब्राह्मण-शास्त्र में महावीर और बुद्ध का निर्देश कैसा क्या है? पुराणों से पहले के किसी ब्राह्मण-ग्रन्थ में तथा विशेष प्राचीन माने जाने वाले पुराणों में यहाँ तक कि महाभारत में भी, ऐसा कोई निर्देश या अन्य वर्णन नहीं है जो ध्यान आकर्षित करे। फिर भी इसी ब्राह्मण-संस्कृति के अत्यन्त प्रसिद्ध और अतिशय माननीय भागवत में बुद्ध, विष्णु के एक अवतार के रूप में ब्राह्मण-मान्य स्थान प्राप्त करते हैं, ठीक इसी प्रकार जैसे जैन-ग्रन्थों में कृष्ण एक भावी तीर्थंकर के रूप में स्थान पाते हैं। इस प्रकार पहले के ब्राह्मण-साहित्य में स्थान प्राप्त न कर सकने वाले बुद्ध धीमे-धीमे इस साहित्य में एक अवतार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं; जब कि स्वयं भगवान् बुद्ध के समकालीन और उनके साथ ही साथ ब्राह्मण-संस्कृति के प्रतिस्पर्द्धी, तेजस्वी पुरुष के रूप में एक विशिष्ट सम्प्रदाय के नायक पद को धारण करने वाले, इतिहासप्रसिद्ध भगवान् महावीर को किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन ब्राह्मणग्रन्थ में स्थान प्राप्त नहीं होता। यहाँ विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करने वाली बात तो यह है कि महावीर के नाम या जीवन-वृत्तान्त का कुछ भी निर्देश ब्राह्मण-साहित्य में नहीं है, फिर भी भागवत जैसे

लोकप्रिय ग्रंथ में **जैन-सम्प्रदाय** के पूज्य और अति प्राचीन माने जाने वाले प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा ने संक्षिप्त होने पर भी मार्मिक और आदरणीय स्थान पाया है।

———

तुलना

(इस तुलना में, जिन शब्दों को मोटे टाइप में दिया गया है, उन पर भाषा और भाव की समानता देखने के लिये पाठकों को खास लक्ष्य देना चाहिये। ऐसा करने से आगे का विवेचन स्पष्ट रूप में समझा जा सकेगा।)

(१)

गर्भहरण घटना*

महावीर—

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में ब्राह्मणकुण्ड नामक ग्राम था। उसमें बसने वाले ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण की देवानन्दा नाम की स्त्री के गर्भ में नन्दन मुनि का जीव दशवें देवलोक से च्युत होकर अवतरित हुआ। **तैरासीवें** दिन इन्द्र की आज्ञा से उसके सेनापति **नैगमेषी** देव ने इस गर्भ को क्षत्रिय-कुण्ड नामक ग्राम के निवासी सिद्धार्थ की धर्मपत्नी त्रिशला रानी के **गर्भ में बदल कर** उस रानी के **पुत्री रूप** गर्भ को देवानन्दा की कोंख में रख

कृष्ण—

असुरों का उपद्रव मिटाने के लिए **देवों की प्रार्थना से** विष्णु ने अवतार लेने का निश्चय करके **योगमाया** नामक अपनी शक्ति को बुलाया। उसको संबोधन करके विष्णु ने कहा—'तू जा और **देवकी के गर्भ में** मेरा जो शेष अंश आया हुआ है, उसे वहाँ से **संकर्षण** (हरण) करके वसुदेव की ही दूसरी स्त्री रोहिणी के गर्भ में प्रवेश कर, जो **बलभद्र राम के रूप में** अवतार लेगा और तू नन्दपत्नी यशोदा के घर **पुत्री रूप** में

* किसी भी दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ में, महावीर के जीवन में इस घटना का उल्लेख नहीं है।

दिया। उस समय उस देव ने इन दोनों माताओं को अपनी शक्ति से **खास निद्रावश** करके बेभान-सी बना दिया था। **नौ मास** पूर्ण होने पर त्रिशला की कोंख से जन्म पाने वाला, वही जीव, भगवान् **महावीर** हुआ। गर्भहरण कराने से पूर्व इसकी सूचना इन्द्र को आसन के कांपने से मिली थी। **इन्द्र ने** आसन के काँपने के कारण का विचार किया तो उसे मालूम हुआ कि तीर्थंकर सिर्फ उच्च और शुद्ध क्षत्रिय कुल में ही जन्म ले सकते हैं, अतः तुच्छ भिखारी और नीच इस ब्राह्मणकुल में महावीर के जीव का अवतरित होना योग्य नहीं है। ऐसा विचार कर इन्द्र ने अपने संकल्प के अनुसार, अपने अनुचर देवों के द्वारा योग्य गर्भ-परिवर्तन कराकर कर्त्तव्य पालन किया। महावीर के जीव ने पूर्व भव में बहुत दीर्घ-काल पूर्व **कुलमद** करके जो नीच गोत्र उपार्जन किया था, उसके अनिवार्य फल के रूप में नीच या तुच्छ गिने जाने वाले **ब्राह्मण कुल में** थोडे समय के लिये ही सही, उन्हें जन्म लेना ही पड़ा। **भगवान् के जन्म-समय विविध**

अवतार पायेगी। जब मैं देवकी के आठवें गर्भ के रूप में जन्म लूंगा तब तेरा भी यशोदा के घर जन्म होगा। एक साथ जन्मे हुए हम दोनों का, एक दूसरे के यहाँ **परिवर्तन** होगा।' **विष्णु** की आज्ञा शिरोधार्य करके उस योग-माया शक्ति ने देवकी को **योग-निद्रावश** करके **सातवें महीने** उसकी कोंख में से शेष गर्भ का रोहिणी की कुक्षि में **संहरण** किया। **इस गर्भ-संहरण** करने का विष्णु का हेतु यह था कि कंस को, जो देवकी से जन्मे हुये बालकों की गिनती करता था और आठवें बालक को अपना पूर्ण शत्रु मानकर उसका नाश करने के लिए तत्पर था, गिनती करने में **शिकस्त** देना। जब कृष्ण का जन्म हुआ तब देवता आदि सब ने पुष्प आदि की **वृष्टि** करके उत्सव मनाया। जन्म होते ही वसुदेव तत्काल जन्मे हुये बालक कृष्ण को उठा कर यशोदा के यहाँ पहुँचाने ले गये। तब द्वारपाल तथा अन्य रक्षक लोग योगमाया की शक्ति से निद्रावश हो अचेत हो गये।

—भागवत दशमस्कन्ध अ० २, श्लो० १-१३ तथा अ०३ श्लो० ४६-५०।

देव-देवियों ने अमृत, गन्ध, पुष्प, सुवर्ण, चाँदी आदि की **वर्षा** की। जन्म के पश्चात् स्नात्र के लिये इन्द्र जब मेरु पर ले गया तब उसने त्रिशला माता को **अवस्वापनी निद्रा से बेभान** कर दिया।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग २, पृ० १६-१९।

(२)

पर्वत-कम्पन

जब देव-देवियाँ महावीर का जन्माभिषेक करने के लिए ले गये तब उन्हें अपनी शक्ति का परिचय देने के लिये और उनकी **शंका का निवारण करने के लिये** इस **तत्काल प्रसूत** बालक ने केवल अपने पैर के अँगूठे से दबाकर एक एक **लाख योजन के सुमेरु पर्वत को कँपा दिया।**

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग २, पृ० १९।

इन्द्र के द्वारा किये हुये उपद्रवों से **रक्षण करने के लिए तरुण** कृष्ण ने योजन प्रमाण **गोवर्धन पर्वत** को सात दिन तक ऊपर उठाये रखा।

—भागवत दशमस्कन्ध, अ० ४३ श्लो० २६-२७।

(३)

बाल-क्रीड़ा

(१) करीब **आठ** वर्ष की उम्र में जब वीर **बालक राजपुत्रों** के साथ खेल रहे थे, तब स्वर्ग में इन्द्र **के द्वारा की हुई उनकी प्रशंसा** सुनकर, वहाँ का

(१) कृष्ण जब अन्य **ग्वालबालकों** के साथ खेल रहे थे, तब उनके शत्रु **कंस द्वारा मारने के लिये भेजे हुये अघ नामक असुर** ने एक योजन जितना लम्बा सर्प

एक **मत्सरी देव** भगवान् के पराक्रम की परीक्षा करने आया। पहले उसने एक **विकराल सर्प** का रूप धारण किया। यह देखकर दूसरे राजकुमार तो डरकर भाग गये, परन्तु कुमार महावीर ने जरा भी भयभीत न होते हुये उस साँप को **रस्सी की** भाँति उठाकर **दूर फेंक दिया**।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग २, पृष्ठ २१।

रूप धारण किया और बीच रास्ते में पड़ा रहा। वह कृष्ण के साथ समस्त बालकों को निगल गया। यह देखकर कृष्ण इस सर्प का गला इस तरह **दबा लिया** कि जिससे उस सर्प अघासुर का मस्तक फट गया, उसका दम निकल गया और वह मर गया। सब बालक उसके मुख में से सकुशल बाहर निकल आये। यह वृत्तान्त सुनकर कंस **निराश हुआ** और देवता तथा ग्वाल प्रसन्न हुये।

—भागवत दशमस्कन्ध, अ० ११, श्लो० १२-३५, पृष्ठ ८३८।

(२) फिर इसी देव ने महावीर को विचलित करने के लिए दूसरा मार्ग लिया। जब सब बालक आपस में **घोड़ा बनकर**, एक दूसरे को **वहन करने का खेल खेल रहे थे** तब वह देव **बालक का रूप** धरकर महावीर का **घोड़ा** बन गया। उसने दैवी शक्ति से पहाड़-सा विकराल रूप बनाया, फिर भी महावीर इससे तनिक भी न डरे और घोड़ा बनकर खेलने के लिये आये हुये उस देव को सिर्फ एक **मुट्ठी मार कर झुका** दिया। अन्त में यह परीक्षक मत्सरी देव भगवान् के पराक्रम से प्रसन्न होकर, उन्हें

(२) आपस में एक दूसरे को **घोड़ा बनाकर** उस पर चढ़ने का खेल कृष्ण और बलभद्र ग्वाल-बालकों के साथ खेल रहे थे। उस समय कंस द्वारा भेजा हुआ प्रलम्ब नामक असुर उस खेल में सम्मिलित हो गया। वह कृष्ण और बलभद्र को उड़ा ले जाना चाहता था। वह बलभद्र को घोड़ा बनाकर उन्हें दूर ले गया और एक प्रचण्ड एवं विकराल रूप उसने प्रकट किया। अन्त में बलभद्र ने भयभीत न होते हुये **सख्त मुष्टि प्रहार** किया जिससे उसके मुंह से खून गिरने लगा और उसे मार डाला।

प्रमाण करके अपने रास्ते **चला गया।**

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग २, पृ० २१-२२।

अन्त में सब सकुशल वापस लौटे।

—भागवत दशमस्कन्ध, अ० २०, श्लो० १८-३०, पृ० ८६६।

(४)

साधक-अवस्था

(१) एक बार दीर्घ तपस्वी **वर्द्धमान** ध्यान में लीन थे। उस समय शूलपाणि नामक यक्ष ने पहले-पहल तो इस तपस्वी को हाथी का रूप धारण करके कष्ट पहुंचाया, परन्तु जब इस कार्य **में** सफल न हुआ तो उसने एक विचित्र **सर्प** का रूप धारण करके **भगवान् को डंक मारा** तथा **मर्मस्थानों** में असह्य वेदना **उत्पन्न** की। यह सब होने पर **भी** जब वे अचल तपस्वी जरा **भी क्षुब्ध न हुये** तो उस यक्ष का **रोष शान्त हो गया।** उसने अपने दुष्कर्म के लिये पश्चात्ताप किया और अन्त में भगवान् से क्षमा माँगकर उनका भक्त बन गया।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, पृष्ठ ३२-३३।

(१) **कालिय** नामक **नाग** यमुना के जल को जहरीला कर डालता था। इस उपद्रव को मिटाने के लिए **कृष्ण** ने, जहाँ कालिय रहता था वहाँ जा कर उसे मारा। कालिय नाग ने इस **साहसी** तथा **पराक्रमी** बालक का सामना किया। उसने **डंक** मारा। मर्मस्थानों में डंक मारा और अपने अनेक फणों से कृष्ण को **सताने** का प्रयत्न किया। परन्तु इस **दुर्दांत चपल** बालक ने नाग को हाय तोबाह कराया और अन्त में उसकी फणों पर **नृत्य** किया। नाग अपने **रोष को शान्त करके** तेजस्वी कृष्ण की आज्ञा के अनुसार वहाँ से चला गया और समुद्र में जा बसा।

—भागवत दशमस्कन्ध, अ० १६, श्लोक ३-३०, पृष्ठ ८५८-५९।

(२) **दीर्घ तपस्वी** एक बार विचरते-विचरते मार्ग में ग्वाल-बालकों के मना करने पर भी **जानबूझ कर** एक ऐसे स्थान में ध्यान धर कर खड़े हो गये जहाँ **पूर्वजन्म** के मुनिपद के समय **क्रोध करके मर जाने** के कारण सर्परूप में जन्म लेकर एक दृष्टिविष **चण्डकौशिक साँप** रहता था और अपने विष से सबको भस्मसात् कर देता था। इस साँप ने इन तपस्वी को भी अपनी दृष्टि-विष से भस्म करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में निष्फल होने पर उसने अनेक **डंक मारे।** जब डंक **मारने** में भी उसे सफलता न मिली तो [1]चण्ड-कौशिक सर्प का क्रोध कुछ शांत हुआ। इन तपस्वी का सौम्यरूप देखकर, चितवृत्ति शान्त होने पर उसे **जातिस्मरण ज्ञान** प्राप्त

(२) एक बार किसी वन में नदी के किनारे नन्द वगैरह गोप सो रहे थे। उस समय एक प्रचंड अजगर आया जो विद्याधर के पूर्व जन्म में अपने रूप का **अभिमान** करने के कारण मुनि का **शाप** मिलने से अभिमान के फलस्वरूप सर्प की इस नीच योनि में जन्मा था। उसने नन्द का पैर **ग्रस लिया।** जब दूसरे ग्वाल-बालक नन्द का पैर छुड़ाने में असफल हुये तो अन्त में कृष्ण ने आकर अपने **पैर से** साँप का **स्पर्श किया।** स्पर्श होने के साथ ही सर्प अपना रूप छोड़कर मूल **विद्याधर के सुन्दर रूप में पलट गया।** भक्तवत्सल कृष्ण के चरण-स्पर्श से उद्धार पाया हुआ यह सुदर्शन नामक विद्याधर कृष्ण की स्तुति करके विद्याधर लोक

---

1 जातकनिदान में बुद्ध के विषय में भी एक ऐसी ही बात लिखी है। उलु-वेला में बुद्ध ने एक बार उलुवेलकाश्यप नामक पाँच सौ शिष्य वाले जटिल की अग्निशाला में रात्रिवास किया। वहाँ एक उग्र आशीविष प्रचण्ड सर्प रहता था। बुद्ध ने उस सर्प को जरा भी चोट पहुँचाये बिना ही निस्तेज कर डालने के लिए ध्यानसमाधि की। सर्प ने भी अपना तेज प्रकट किया। अन्त में बुद्ध के तेज ने सर्प के तेज का पराभव कर दिया। प्रातःकाल बुद्ध ने जटिल को निस्तेज किया हुआ सर्प बताया। यह देखकर जटिल अपने शिष्यों के साथ बुद्ध का शिष्य बन गया। यह ऋद्धिपाद या बुद्ध का प्रातिहार्य अतिशय कहा गया है।

हुआ। अन्त में धर्म की आराधना करके वह देवलोक में गया।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, पृष्ठ ३८-४०।

में अपनी जगह चला गया।

—भागवत दशमस्कन्ध,अ० ३४, श्लोक ५-१५, पृष्ठ ६१७-१८।

(३) दीर्घ तपस्वी एक बार गंगा पार करने के लिए **नाव में बैठकर** परले पार जा रहे थे। उस समय इन तपस्वी को नाव में बैठा जानकर पूर्वभव के **बैरी सुदंष्ट्र** नामक **देव** ने उस नाव को उलट देने के लिये प्रबल पवन की सृष्टि की और गंगा तथा नाव को हचमचा डाला। यह तपस्वी तो शान्त और ध्यानस्थ थे परंतु दूसरे दो सेवक देवों ने इस घटना का पता लगते ही आकर उस उपसर्गकारक देव को **हराकर भगा** दिया। इस प्रकार प्रचण्ड पवन का उपसर्ग शान्त हो जाने पर उस नाव में भगवान् के साथ बैठे हुए अन्य यात्री भी सकुशल अपनी-अपनी जगह पहुँचे।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, स० ३, पृष्ठ ४१-४२।

(३) एक बार कृष्ण का **वध करने के लिए कंस ने तृणासुर** नामक असुर को व्रज में भेजा। वह प्रचण्ड आँधी और पवन के रूप में आया। कृष्ण को **उड़ाकर ऊपर** ले गया परन्तु इस पराक्रमी बालक ने उस असुर का गला ऐसा **दबाया** कि उसकी **आँखें निकल पड़ीं** और अन्त में प्राणहीन होकर **मर गया**। कुमार कृष्ण सकुशल व्रज में उतर आये।

—भागवत दशमस्कन्ध,अ० ११, श्लोक २४-३०

(४) एक बार दीर्घ तपस्वी एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे। वहीं पास में वन में किसी के द्वारा सुलगाई हुई अग्नि फैलते-फैलते इन तपस्वी के पैर में आकर छुई। सहचर के रूप में जो **गोशालक** था वह तो अग्नि का

(४) एक बार यमुना के किनारे व्रज में आग लग गयी। उस भयंकर अग्नि से तमाम **व्रजवासी** घबरा उठे परंतु कुमार कृष्ण ने उससे न घबराकर **अग्निपान कर** उसे **शान्त कर दिया**।

उपद्रव देखकर **भाग छूटा,** परन्तु ये दीर्घ तपस्वी **ध्यानस्थ** एवं **स्थिर** ही बने रहे। अग्नि का उपद्रव स्वयं **शान्त हो गया।**

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, पृ० ५३।

—भागवत दशमस्कन्ध, अ० १७, श्लोक २१–२५, पृष्ठ ८६६-६७।

(५) एक बार दीर्घ तपस्वी ध्यान में थे। उस समय किसी **पूर्व जन्म** की अपमानित उनकी पत्नी और इस समय **व्यन्तरी के रूप में** मौजूद कटपूतना (दिम्बराचार्य जिनसेनकृत हरिवंश पुराण के अनुसार **कुपूतना**-सर्ग ३५ श्लोक ४२ पृ० ३६७) आई। अत्यन्त ठण्ड होने पर भी इस **वैरिणी** व्यन्तरी ने दीर्घ तपस्वी पर खूब ही जल के बूंद उछाले और कष्ट देने का प्रयत्न किया। कटपूतना के उग्र परिषह से यह तपस्वी जब ध्यान से **विचलित न हुये** तब अन्त में वह शान्त हुई, पैरों में गिरी और तपस्वी की पूजा करके चली गई।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, पृ० ५८।

(५) कृष्ण के **नाश** के लिये कंस द्वारा भेजी हुई **पूतनाराक्षसी** व्रज में आई। इसने बालक कृष्ण को विषमय स्तनपान कराया परन्तु कृष्ण ने इस षडयन्त्र को ताड़ लिया और उसने स्तन का ऐसी **उग्रता** से पान किया कि जिससे वह **पीड़ित** होकर फट पड़ी और मर गई।

—भागवत दशमस्कन्ध, अ० ६, श्लोक १-६, पृ० ८१४।

(६) दीर्घ तपस्वी के उग्र तप की इन्द्र द्वारा की हुई **प्रशंसा** सुनकर उसे **सहन न करने** वाला **संगम** नामक देव **परीक्षा** करने

(६) एक बार मथुरा में **मल्लक्रीड़ा के प्रसंग** की योजना कर कंस ने तरुण कृष्ण को **आमंत्रण** दिया और **कुवल-**

आया। तपस्वी को उसने अनेक परिषह दिये। उसने एक बार उन्मत्त **हाथी** और **हथिनी** का रूप धरकर तपस्वी को दन्तशूल से ऊपर उछाल कर नीचे **पटक दिया**। इसमें असफल होने पर उसने भयंकर बवण्डर रचकर इन तपस्वी को उड़ाया। इन प्रतिकूल परिषहों से तपस्वी जब **ध्यानचलित न हुये** तब संगम ने अनेक सुन्दर **स्त्रियाँ रचीं**। उन्होंने अपने हाव-भाव, गीत-नृत्य, वादन द्वारा तपस्वी को **चलित करने** का प्रयत्न किया, परन्तु जब इसमें भी उसे सफलता न मिली तो अन्त में उसने तपस्वी को **नमन किया** और भक्त होकर उनका **पूजन** करके चलता बना।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, पृ० ६७-७२।

यापीड हाथी द्वारा कृष्ण को कुचलवाने की योजना की, परंतु चतुर कृष्ण ने कंस द्वारा नियुक्त कुवलयापीड को **मर्दन** करके मार डाला।

—भागवत दशमस्कन्ध,अ० ४३, श्लोक १-२५, पृ० ६४७-४८।

जब कोई अवसर आता है तो आसपास बसनेवाली **गोपियाँ इकट्ठी हो जाती हैं,** रास खेलती हैं और रसिक कृष्ण के साथ क्रीड़ा करती हैं। यह **रसिया भी** तन्मय होकर पूरा भाग लेता है और भक्त गोपीजनों की रस-वृत्ति को विशेष उद्दीप्त करता है।

—भागवत दशमस्कन्ध, अ० ३०, श्लोक १-४०, पृष्ठ ६०४-७।

दृष्टिबिन्दु

(१) संस्कृतिभेद—

ऊपर उदाहरण के तौर पर जो थोड़ी सी घटनाएँ दी गई हैं, वे आर्यावर्त की संस्कृति के दो प्रसिद्ध अवतारी पुरुषों के जीवन की हैं। उनमें से एक तो जैन-सम्प्रदाय के प्राण-स्वरूप दीर्घ तपस्वी महावीर के हैं और दूसरे वैदिक-सम्प्रदाय के तेजोरूप योगीश्वर कृष्ण के हैं। ये घटनाएँ सचमुच घटित हुई हैं, अर्धकल्पित हैं या एकदम कल्पित हैं, इस विचार को थोड़ी देर के लिए एक ओर रख

कर यहाँ यह विचार करना है कि उक्त दोनों महापुरुषों की जीवन-घटनाओं का ऊपरी ढाँचा एक सरीखा होने पर भी उनके अन्तरंग में जो अत्यन्त भेद दिखाई दे रहा है, वह किस तत्त्व पर, किस सिद्धान्त पर और किस दृष्टि-बिन्दु पर अवलम्बित है ?

उक्त घटनाओं की साधारण रूप से किन्तु ध्यानपूर्वक जाँच करने वाले पाठक पर तुरन्त ही यह छाप पड़ेगी कि एक प्रकार की घटनाओं में तप, सहिष्णुता और अहिंसाधर्म झलक रहा है, जब कि दूसरी प्रकार की घटनाओं में शत्रु-शासन, युद्ध-कौशल और दुष्ट-दमन कर्म का कौशल झलक रहा है। यह भेद जैन और वैदिक-संस्कृति के तात्त्विक भेद पर अवलम्बित है। जैन-संस्कृति का मूल तत्त्व या मूल सिद्धान्त अहिंसा है। जो अहिंसा की पूर्णरूप से साधना करे या उसकी पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया हो, वही जैन-संस्कृति में अवतार बनता है। उसी की अवतार के रूप में पूजा होती है। वैदिक-संस्कृति में यह बात नहीं। उसमें तो जो पूर्ण रूप से लोक-संग्रह करे, सामाजिक नियम की रक्षा के लिये जो स्वमान्य सामाजिक नियमों के अनुसार सर्वस्व अर्पण करके भी शिष्ट का पालन और दुष्ट का दमन करे, वही अवतारी बनता है और अवतार के रूप मे उसी की पूजा होती है। तत्त्व का यह भेद कोई मामूली भेद नहीं है। क्योंकि एक में उत्तेजना के चाहे जैसे प्रबल कारण विद्यमान हों, हिंसा के प्रसंग मौजूद हों, तो भी पूर्णरूप से अहिंसक रहना पड़ता है; जबकि दूसरी संस्कृति में अंतःकरण की वृत्ति तटस्थ और सम होने पर भी, विकट प्रसंग उपस्थित होने पर प्राणों की बाजी लगाकर अन्यायकर्त्ता को प्राण-दण्ड तक देकर, हिंसा द्वारा भी अन्याय का प्रतिकार करना पड़ता है। जब इन दोनों संस्कृतियों में मूलतत्त्व और मूलभावना में ही भिन्नता है तो दोनों संस्कृतियों के प्रतिनिधि माने जाने वाले अवतारी पुरुषों की जीवन-घटनाएँ इस तत्त्व-भेद के अनुसार योजित की जायँ, यह जैसे स्वाभाविक है उसी प्रकार मानस-शास्त्र की दृष्टि से भी उचित है। यही कारण है कि हम एक ही प्रकार की घटनाओं को उक्त दोनों महापुरुषों के जीवन में भिन्न-भिन्न रूप में योजित की हुई देखते हैं।

अधर्म या अन्याय का प्रतिकार करना और धर्म या न्याय की प्रतिष्ठा करना, यह तो प्रत्येक महापुरुष का लक्षण होता ही है। इसके बिना कोई महापुरुष नहीं बन सकता। महान् पुरुष के रूप में उसकी पूजा भी नहीं हो सकती। फिर भी उसकी पद्धति में भेद होता है। एक महान् पुरुष किसी भी प्रकार के, किसी भी अन्याय या अधर्म को अपनी सारी शक्ति लगाकर बुद्धिपूर्वक तथा उदारता-पूर्वक सहन करके उस अधर्म या अन्याय को करने वाले व्यक्ति का अन्तःकरण अपने तप द्वारा पलटकर उसमें धर्म एवं न्याय के राज्य की स्थापना करने का प्रयत्न करता है। दूसरे महापुरुष को व्यक्ति-गत रूप से धर्म-स्थापन की यह पद्धति यदि इष्ट होती है, तो भी वह लोक-समूह की दृष्टि से इस पद्धति को विशेष फलप्रद न समझ-कर किसी और ही पद्धति को स्वीकार करता है। वह अन्यायी या अधर्मी का अन्तःकरण समता या सहिष्णुता के द्वारा नहीं पलटता। वह तो "विष की दवा विष" इस नीति को स्वीकार कर अथवा 'शठ के प्रति शठ' होनेवाली नीति को स्वीकार कर उस अन्यायी या अधर्मी को मटियामेट करके ही लोक में धर्म और नीति की स्थापना करने पर विश्वास करता है। विचारसरणी का यह भेद हमें इस युग में भी स्पष्ट रूप से गाँधीजी तथा लोकमान्य की विचार एवं कार्यशैली को देख सकते हैं।

किसी प्रकार की गलतफहमी न हो, इस उद्देश्य से यहाँ दोनों संस्कृतियों के सम्बन्ध में कुछ विशेष जता देना उचित है। कोई यह न समझ ले कि इन दोनों संस्कृतियों में प्रारम्भ से ही मौलिक भेद है और दोनों एक दूसरी से अलग रहकर ही पली-पुसी हैं। सच्चाई तो यह है कि एक अखण्ड आर्य-संस्कृति के दोनों अंश प्राचीन हैं। अहिंसा या आध्यात्मिक संस्कृति का विकास होते-होते एक ऐसा समय आया जब कुछ पुरुषों ने उसे अपने जीवन में पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। इस कारण इन महापुरुषों के सिद्धान्त और जीवन-महिमा की ओर अमुक लोक-समूह झुका जो धीरे-धीरे एक समाज के रूप में संगठित हो गया। सम्प्रदाय की भावना तथा अन्य कई कारणों से यह अहिंसक समाज अपने आपको ऐसा समझने लगा मानो वह एकदम अलग ही है! दूसरी ओर सामान्य प्रजा में जो

समाजनियामक या लोकसंग्राहिका संस्कृति पहले से ही मौजूद थी, वह चालू रही और अपना काम करती चली गई। जब-जब किसी ने अहिंसा के सिद्धांत पर अत्यन्त जोर दिया तब-तब इस लोकसंग्रह वाली संस्कृति ने उसे प्रायः अपना तो लिया, किन्तु उसकी आत्यन्तिकता के कारण उसका विरोध जारी रखा। इस प्रकार इस संस्कृति का अनुयायी-वर्ग यह समझने और दूसरों को समझाने लगा मानो वह प्रारम्भ से ही जुदा था। जैन-संस्कृति में अहिंसा का जो स्थान है, वही स्थान वैदिक-संस्कृति में भी है। भेद है तो इतना ही कि वैदिक-संस्कृति अहिंसा के सिद्धान्त को व्यक्तिगत रूप से पूर्ण आध्यात्मिकता का साधन मानकर उसका उपयोग व्यक्तिगत ही प्रतिपादन करती है और समष्टि की दृष्टि से अहिंसा सिद्धान्त को सीमित कर देती है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करके भी समष्टि में जीवन-व्यवहार तथा आपत्ति के प्रसंगों में हिंसा को अपवादरूप न मानकर अनिवार्य उत्सर्गरूप मानती है एवं वर्णन करती है। यही कारण है कि वैदिक-साहित्य में जहाँ हम उपनिषद् तथा योग-दर्शन जैसे अत्यन्त तप और अहिंसा के समर्थक ग्रंथ देखते हैं वहाँ साथ ही साथ 'शाठ्यं' कुर्यात् शठं प्रति' की भावना के समर्थक तथा जीवन-व्यवहार किस प्रकार चलाना चाहिये, यह बताने वाले पौराणिक एवं स्मृति-ग्रंथों को भी प्रतिष्ठाप्राप्त देखते हैं। अहिंसा-संस्कृति की उपासना करनेवाला एक जुदा वर्ग स्थापित हो गया और समाज के रूप में उसका संगठन भी हो गया, पर कुछ अंशों में हिंसात्मक प्रवृत्ति के बिना जीवित रहना तथा अपना तन्त्र चलाना तो उसके लिये भी सम्भव न था। क्योंकि किसी भी छोटे या बड़े समग्र समाज में पूर्ण अहिंसा का पालन होना असम्भव है। इसी से जैन-समाज के इतिहास में भी हमें प्रवृत्ति के विधान तथा विशेष प्रसंग उपस्थित होने पर त्यागी भिक्षु के हाथ से हुये हिंसा-प्रधान युद्ध देखने को मिलते हैं। इतना सब कुछ होने पर भी जैन-संस्कृति का वैदिक-संस्कृति से भिन्न स्वरूप स्थिर ही रहा है और वह यह कि जैन-संस्कृति प्रत्येक प्रकार की व्यक्तिगत या समष्टिगत हिंसा को निर्बलता का चिह्न मानती है और इसलिए इस प्रकार की प्रवृत्ति को अन्त में वह प्रायश्चित्त के योग्य समझती है। वैदिक-संस्कृति ऐसा नहीं मानती। व्यक्तिगत रूप से अहिंसा-तत्त्व के

विषय में उसकी मान्यता जैन-संस्कृति के समान ही है, परन्तु समष्टि की दृष्टि से वह स्पष्ट घोषणा करती है कि हिंसा निर्बलता का ही चिह्न है, यह ठीक नहीं, बल्कि विशेष अवस्था में तो वह बलवान् का चिह्न है, आवश्यक है, विधेय है, अतएव विशेष प्रसंग पर वह प्रायश्चित्त के योग्य नहीं है। लोकसंग्रह की यही वैदिक-भावना सर्वत्र पुराणों के अवतारों में और स्मृति-ग्रन्थों के लोक-शासन में हमें दिखलाई देती है।

इसी भेद के कारण ऊपर वर्णन किये हुये दोनों महापुरुषों के जीवन की घटनाओं का ढाँचा एक होने पर भी उसका रूप और झुकाव भिन्न-भिन्न है। जैन-समाज में गृहस्थों की अपेक्षा त्यागीवर्ग की संख्या बहुत कम है। फिर भी समस्त समाज पर (योग्य या *अयोग्य, विकृत या अविकृत) अहिंसा की जो छाप लगी हुई है,* और वैदिक-समाज में परिव्राजकवर्ग अच्छी संख्या में होने पर भी उस समाज पर पुरोहित गृहस्थवर्ग की चातुर्वर्णिक लोकसंग्रह वाली वृत्ति का जो प्रबल और गहरा असर है, उसका स्पष्टीकरण उपर्युक्त संस्कृति-भेद में से आसानी के साथ प्राप्त किया जा सकता है।

(२) घटना के वर्णन की परीक्षा—

अब दूसरे दृष्टिबिन्दु के सम्बन्ध में विचार करना है। वह दृष्टिबिन्दु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह है कि इन वर्णनों का आपस में एक दूसरे पर कुछ प्रभाव पड़ा है या नहीं और इससे क्या परिवर्तन या विकास सिद्ध हुआ है; इस बात की परीक्षा करना। सामान्यरूप से इस सम्बन्ध में चार पक्ष हो सकते हैं—

(१) वैदिक तथा जैन दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों का वर्णन एक दूसरे से बिलकुल अलग है। किसी का किसी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है।

(२) उक्त वर्णन अत्यन्त समान एवं बिम्ब-प्रतिबिम्ब जैसा है अतः वह बिलकुल स्वतन्त्र न होकर किसी एक ही भूमिका में से उत्पन्न हुआ है।

(३) किसी भी एक सम्प्रदाय की घटनाओं का वर्णन दूसरी सम्प्रदाय के वैसे वर्णन पर आश्रित है अथवा उसका उस पर प्रभाव पड़ा है।

(४) यदि एक सम्प्रदाय के वर्णन का प्रभाव दूसरे सम्प्रदाय के वर्णन पर पड़ा ही हो तो किसका वर्णन किस पर अवलम्बित है ? उसने मूल कल्पना या मूल वर्णन की अपेक्षा कितना परिवर्तन किया है और अपनी दृष्टि से कितना विकास सिद्ध किया है ?

(१) उक्त चार पक्षों में से प्रथम पक्ष संभव नहीं है। एक ही देश, एक ही प्रान्त, एक ही ग्राम, एक ही समाज और एक ही कुटुम्ब में जब दोनों सम्प्रदाय साथ ही साथ प्रवर्त्तमान हों तथा दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों तथा धर्म-गुरुओं में शास्त्र, आचार और भाषा का ज्ञान एवं रीति-रिवाज एक ही हों, वहाँ भाषा और भाव में इतनी अधिक समानता रखने वाली घटनाओं का वर्णन, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न या एक दूसरे के प्रभाव से रहित मान लेना लोक-स्वभाव की अनभिज्ञता को स्वीकार करना होगा।

(२-३) दूसरे पक्ष के अनुसार यह कल्पना की जा सकती है कि दोनों सम्प्रदायों का उक्त वर्णन पूर्णरूप में न सही, अल्पांश में ही किसी सामान्य भूमिका में से आया है। इस संभावना का कारण यह है कि इस देश में भिन्न-भिन्न समयों में अनेक जातियाँ आई हैं और वे यहीं आबाद हो गई हैं। संभव है वैदिक और जैन-संस्कृति के अंकुर पैदा होने से पहले गोप या अहीर जैसी बाहर से आई हुई या मूल से इसी देश में रहने वाली किसी विशेष जाति में, कृष्ण और कंस के संघर्षण के समान या महावीर और देवों के प्रसंगों के समान, अच्छी-अच्छी बातें वर्णित हों, और जब उस जाति में वैदिक और जैन-संस्कृति का प्रवेश हुआ या इन संस्कृतियों के अनुयायियों में उसका सम्मिश्रण हुआ तो उस जाति में प्रचलित और लोकप्रिय हुई उन बातों को वैदिक एवं जैन-संस्कृति के ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ढंग से अपने-अपने साहित्य में स्थान दिया हो। जब वैदिक तथा जैन-संस्कृति के वर्णनों में कृष्ण का सम्बन्ध ग्वालों और अहीरों के साथ समान रूप से देखा जाता है और महावीर के जीवन-प्रसंग में भी ग्वालों का बारम्बार जिक्र पाया जाता है, तब तो दूसरे पक्ष को और भी अधिक सहारा मिलता है। परन्तु वर्तमान में दोनों संस्कृतियों का जो साहित्य हमें उपलब्ध है और जिस

साहित्य में महावीर तथा कृष्ण की उल्लिखित घटनायें संक्षेप म या विस्तार से, समान रूप में या असमान रूप में चित्रित की गई नजर आती हैं, उन्हें देखते हुए दूसरे पक्ष की संभावना को छोड़कर तीसरे पक्ष की निश्चितता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। हमें निश्चित रूप से प्रतीत होने लगता है कि मूल में चाहे जो हो, परन्तु इस समय के उपलब्ध साहित्य में जो दोनों वर्णन पाये जाते हैं उनमें से एक दूसरे पर अवश्य अवलंबित है या एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ा है; फिर भले ही वह पूर्ण रूप में न हो, कुछ अंशों में ही हो।

(४) ऐसी अवस्था म अब चौथे पक्ष के विषय में विचार करना शेष रहता है। वैदिक विद्वानों ने जैन वर्णन को अपनाकर अपने ढंग से अपने साहित्य में उसे स्थान दिया है या जैन-लेखकों ने वैदिक-पौराणिक वर्णन को अपनाकर अपने ढंग से अपने ग्रंथों में स्थान दिया है ? बस, यही विचारणीय प्रश्न है।

जैन-संस्कृति की आत्मा क्या है और मूल जैनग्रंथकारों की विचारधारा कैसी होनी चाहिये ? इन दो दृष्टियों से यदि विचार किया जाय तो यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि जैन-साहित्य का उल्लिखित वर्णन पौराणिक वर्णन पर अवलम्बित । पूर्ण त्याग, अहिंसा और वीतरागत का आदर्श, यह जैन-संस्कृति की आत्मा है और मूल जैन ग्रंथकारों का मानस इसी आदर्श के अनुसार गढ़ा होना चाहिए। यदि उनका मानस इसी आदर्श अनुसार हुआ हो तभी जैन-संस्कृति के साथ उसका मेल बैठ सकता है। जैन-संस्कृति में वहमों, चमत्कारों, कल्पित आडम्बरों तथा काल्पनिक आकर्षणों को जरा भी स्थान नहीं है। जितने अंश में इस प्रकार की कृत्रिम और बाहरी बातों का प्रवेश होता है, उतने ही अंशों में जैन-संस्कृति का आदर्श विकृत एवं विनष्ट होता है। यदि यह सच है तो आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में, अंध-श्रद्धालु भक्तों की अप्रीति को अंगीकार करके और उनकी परवाह न करते हुए यह स्पष्ट कर देना उचित है कि भगवान् महावीर की प्रतिष्ठा न तो इन घटनाओं में है और न बाल-कल्पना जैसे दिखाई देनेवाले वर्णनों में ही। कारण स्पष्ट है। इस प्रकार की दैवी घटनाएँ और अद्भुत

चमत्कारी प्रसंग तो चाहे जिनके जीवन में लिखे हुये पाये जा सकते हैं। अतएव जब धर्मवीर दीर्घ तपस्वी के जीवन में पग-पग पर देवों का आना देखा जाता है, दैवी उपद्रवों को बाँचा जाता है और असंभव प्रतीत होनेवाली कल्पनाओं का रंग चढ़ा हुआ नजर आता है तो ऐसा मालूम होने लगता है कि भगवान् महावीर के जीवन-वृत्तांत में मिली हुई ये घटनाएँ वास्तविक नहीं हैं। ये घटनाएँ समीपवर्ती वैदिक-पौराणिक वर्णन में से बाद में ले ली गई हैं।

इस विधान को स्पष्ट करने के लिए यहाँ दो प्रकार के प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं :—

(१) प्रथम यह कि स्वयं जैन-ग्रन्थों में महावीर-जीवन-संबंधी उक्त घटनाएँ किस क्रम से मिलती हैं और

(२) दूसरे यह कि जैन-ग्रन्थों में वर्णित कृष्ण के जीवन-प्रसंगों की पौराणिक कृष्ण-जीवन के साथ तुलना करना और इन जैन तथा पौराणिक ग्रंथों के समय का निर्धारण करना।

(१) जैन सम्प्रदाय में मुख्य दो फिरके हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर फिरके के साहित्य में महावीर का जीवन बिलकुल खंडित है और साथ ही इसी फिरके के अलग-अलग ग्रंथों में कहीं-कहीं कुछ-कुछ विसंवादी भी है। अतएव यहाँ श्वेताम्बर फिरके के ग्रंथों को ही सामने रखकर विचार किया जाता है। सबसे प्राचीन माने जानेवाले अंग साहित्य में सिर्फ दो अंग ही ऐसे हैं कि जिनमें महावीर के जीवन के साथ उल्लिखित घटनाओं में से किसी-किसी की झलक नजर आती है। आचारांगसूत्र के—जो पहला अंग है और जिसकी प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध है—पहले श्रुत-स्कन्ध (उपधान सूत्र अ० ९) में भगवान् महावीर की साधक अवस्था का वर्णन है। परन्तु इसमें किसी भी दैवी, चमत्कारी या अस्वाभाविक उपसर्ग का नामनिशान तक नहीं है। इसमें तो कठोर साधक के लिये सुलभ बिलकुल स्वाभाविक मनुष्यकृत तथा पशु-पक्षीकृत उपसर्गों का वर्णन है, जो अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है और एक वीतराग संस्कृति के निर्देशक शास्त्र के साथ सामंजस्य रखने वाला मालूम होता है। बाद में मिलाये हुये माने जाने वाले

इसी आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अत्यन्त संक्षेप में भगवान् की सारी जीवनकथा आती है। इसमें गर्भ के संहरण की घटना का निर्देश आता है और किसी प्रकार का ब्यौरा दिये बिना—किसी विशेष घटना का निरूपण न करते हुए—सिर्फ भयंकर उपसर्गों को सहन करने की बात कही गई है। भगवती नामक पाँचवें अंग में गर्भ-संहरण का वर्णन विशेष पल्लवित रूप में मिलता है। फिर इसी अंग में दूसरी जगह महावीर अपने को देवानन्दा का पुत्र बताते हुए गौतम को कहते हैं कि (भगवती श० ९ उद्देश ३३, पृ० ४५६) यह देवानन्दा मेरी माता है। (इनका जन्म त्रिशला की कोख से होने के कारण सब लोग इन्हें त्रिशलापुत्र के रूप में तबतक जानते होंगे, ऐसी कल्पना दिखाई देती है)।

यद्यपि अंग विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के आसपास संकलित हुए हैं तथापि इस रूप में या कहीं-कहीं कुछ भिन्न रूप में इन अंगों का अस्तित्व पाँचवीं शताब्दी से प्राचीन है। इसमे भी आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध का रूप और भी प्राचीन है। यह बात हमें ध्यान में रखनी चाहिये। अंग के बाद के साहित्य में आवश्यक निर्युक्ति और उसका भाष्य गिना जाता है, जिनमें महावीर के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली उपर्युक्त घटनाओं का वर्णन है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि निर्युक्ति एवं भाष्य में इन घटनाओं का वर्णन है तथापि वह बहुत संक्षिप्त है और प्रमाण में कम है। इसके बाद इस निर्युक्ति और भाष्य की चूर्णि का समय आता है। चूर्णि में इन घटनाओं का वर्णन विस्तार से और प्रमाण में अधिक पाया जाता है।

चूर्णि का रचनाकाल सातवीं या आठवीं सदी माना जाता है। मूल निर्युक्ति ई० सन् से पूर्व की होने पर भी इसका अन्तिम समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी से और भाष्य का समय सातवीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं है। चूर्णिकार के पश्चात् महावीर के जीवन की अधिक से अधिक और परिपूर्ण वृत्तांत की पूर्ति करने वाले आचार्य हेमचन्द्र हैं। हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के दशम पर्व में तमाम पूर्ववर्त्ती महावीर-जीवन-संबंधी ग्रन्थों का दोहन करके अपनी

कवित्व की कल्पनाओं के रंग में रँग कर महावीर का सारा जीवन वर्णन किया है। इस वर्णन में से ऊपर जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है वे समस्त घटनाएँ यद्यपि चूर्णि में विद्यमान हैं, तथापि यदि हेमचन्द्र के वर्णन को और भागवत के कृष्ण-वर्णन को सामने रखकर एक साथ पढ़ा जाय तो जरूर ही मालूम पड़ने लगेगा कि हेमचन्द्र ने भागवतकार की कवित्वशक्ति के संस्कारों को अपनाया है।

अंगसाहित्य से लेकर हेमचन्द्र के काव्यमय महावीर-चरित तक, हम ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर आगे बढ़ते बाँचते हैं, त्यों-त्यों महावीर के जीवन की सहज घटनाएँ कायम तो रहती हैं मगर उनपर दैवी और चमत्कारी घटनाओं का रंग अधिकाधिक भरता जाता है। अतएव जान पड़ता है कि जो घटनाएँ अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं और जिनके बिना भी मूल जैनभावना अबाधित रह सकती है, वे घटनाएँ किसी न किसी कारण से जैन साहित्य में—महावीर जीवन में—बाहर से आ घुसी हैं।

इस बात को सिद्ध करने के लिये यहाँ एक घटना पर विशेष विचार करना अप्रासंगिक न होगा। आवश्यक निर्युक्ति, उसके भाष्य और चूर्णि में महावीर के जीवन की तमाम घटनाएँ संक्षेप या विस्तार से वर्णित हैं। छोटी-बड़ी तमाम घटनाओं का संग्रह करके उनको सुरक्षित रखने वाली निर्युक्ति, भाष्य तथा चूर्णि के लेखकों ने महावीर द्वारा सुमेरु कँपाने के आकर्षक वृत्तान्त का उल्लेख नहीं किया, जबकि उक्त ग्रन्थों के आधार पर महावीर-जीवन लिखने वाले हेमचन्द्र ने मेरु-कम्पन का उल्लेख किया है। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा किया हुआ यह उल्लेख यद्यपि उसके आधारभूत निर्युक्ति, भाष्य या चूर्णि में नहीं है फिर भी आठवीं शताब्दी के दिगम्बर कवि रविषेणकृत पद्मपुराण में है†। रविषेण ने यह वर्णन प्राकृत के 'पउमचरिय' से लिया है क्योंकि रविषेण का पद्मपुराण प्राकृत पउमचरिय का अनुकरणमात्र है और पउमचरिय (द्वि० पर्व, श्लो० २५-२६, पृ० ५) में यह वर्णन उल्लिखित है।

---

† द्वितीय पर्व, श्लोक ७५-७६, पृष्ठ १५।

पद्मचरित दिगम्बर-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, इसमें जरा भी विवाद नहीं है। पउमचरिय के विषय में अभी मतभेद है। पउमचरिय चाहे दिगम्बरीय हो चाहे श्वेताम्बरीय हो, अथवा इन दोनों रूढ़ सम्प्रदायों से भिन्न तीसरे किसी गच्छ के आचार्य की कृति हो, कुछ भी हो यहाँ तो सिर्फ यही विचारणीय है कि पउमचरिय में निर्दिष्ट मेरुकम्पन की घटना का मूल क्या है ?

आगम ग्रन्थों एवं निर्युक्ति में इस घटना का कुछ भी उल्लेख नहीं है, अतएव यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि पउमचरिय के कर्त्ता ने वहाँ से इसे लिया है। तब यह घटना आई कहाँ से? यद्यपि पउमचरिय का रचना-समय पहली शताब्दी निर्देश किया गया है, फिर भी कुछ कारणों से इस समय में भ्रम जान पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि पउमचरिय ब्राह्मण पद्मपुराण के बाद की कृति है। पाँचवीं शताब्दी से पूर्व के होने की बहुत ही कम संभावना है। चाहे जो हो, परन्तु अंग और निर्युक्ति आदि में सूचित न की हुई मेरु-कम्पन की घटना पउमचरिय में कहाँ से आई? यह प्रश्न तो कायम ही रहता है।

यदि पउमचरिय के कर्त्ता के पास इस घटना का उल्लेख करने वाला अधिक प्राचीन कोई ग्रंथ होता और उसी के आधार पर उसने इसका उल्लेख किया होता तो शायद ही निर्युक्ति और भाष्य में इसका उल्लेख होने से रह सकता था। अतएव कहना चाहिये कि यह घटना कहीं बाहर से पउमचरिय में आ घुसी है। दूसरी ओर हरिवंश आदि ब्राह्मणपुराणों में फलद्रूप पौराणिक कल्पना में से जन्मी हुई गोवर्धन के उत्तोलन की घटना का उल्लेख प्राचीन काल से मिलता है।

पौराणिक अवतार कृष्ण द्वारा गोवर्धनपर्वत का उत्तोलन और जैन तीर्थंकर महावीर द्वारा सुमेरुपर्वत का कम्पन, इन दोनों में इतनी अधिक समानता है कि कोई भी एक कल्पना, दूसरी पर अवलम्बित है।

हम देख चुके हैं कि आगम निर्युक्ति-ग्रंथों में, जिनमें कि गर्भ-

संक्रमण सरीखे असंभव प्रतीत होने वाले वर्णनों का उल्लेख है, उनमें भी सुमेरुकम्पन का संकेत तक नहीं है। किसी प्राचीन जैन-परम्परा में से पउमचरिय में इस घटना के लिये जाने की बहुत कम संभावना है और ब्राह्मणपुराणों में पर्वत के उठाने का उल्लेख है। तब हमें यह मानने के लिये आधार मिलता है कि कवित्वमय कल्पना और अद्भुत वर्णनों में ब्राह्मण मस्तिष्क का अनुकरण करने वाले जैन मस्तिष्क ने, ब्राह्मणपुराण के गोवर्धन पर्वत के उत्तोलन की कल्पना के सहारे इस कल्पना की सृष्टि कर ली है।

पड़ोसी और विरोधी सम्प्रदाय वाला अपने भगवान् का महत्व गाते हुए कहता है कि पुरुषोत्तम कृष्ण ने तो अपनी अँगुली से गोवर्धन जैसे पहाड़ को उठा लिया; तब साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को संतुष्ट करने के अर्थ जैनपुराणकार यदि यह कहें तो सर्वथा उचित जान पड़ता है कि--कृष्ण ने जवानी में सिर्फ एक योजन के गोवर्धन को ही उठाया पर हमारे प्रभु महावीर ने तो, जन्म होते ही, केवल पैर के अँगूठे से, एक लाख योजन के सुमेरुपर्वत को डिगा दिया! कुछ दिनों बाद यह कल्पना इतनी मजबूत हो गई, इतनी अधिक प्रचलित हो गई कि अन्त में हेमचन्द्र ने भी अपने ग्रंथ में इसे स्थान दिया। अब आजकल की जैन-जनता तो यही मानने लगी है कि महावीर के जीवन में आने वाली मेरुकम्पन की घटना आगमिक और प्राचीन ग्रंथगत है।

यहाँ उलटा तर्क करके एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि प्राचीन जैनग्रंथों में उल्लिखित मेरुकम्पन की घटना की ब्राह्मण पुराणकारों ने गोवर्धन को उठाने के रूप में नकल क्यों न की हो? परन्तु इस प्रश्न का उत्तर एक स्थल पर पहले ही दे दिया गया है। वह स्पष्ट है। जैन ग्रंथों का मूलस्वरूप काव्यकल्पना का नहीं है और यह कथन इसी प्रकार की काव्यकल्पना का परिणाम है। पौराणिक कवियों का मानस मुख्य रूप से काव्यकल्पना के संस्कार से ही गढ़ा हुआ नजर आता है। अतएव यही मानना उचित प्रतीत होता है कि यह कल्पना पुराण द्वारा ही जैनकाव्यों में, रूपांतरित होकर घुस गयी है।

(२) कृष्ण के गर्भावतरण से लेकर जन्म, बाललीला और आगे के जीवन-वृत्तांतों का निरूपण करने वाले प्रधान वैदिक पुराण हरिबंश, विष्णु, पद्म, ब्रह्मवैवर्त्त और भागवत हैं। भागवत लगभग आठवीं-नौवीं शताब्दी का माना जाता है। शेष पुराण किसी एक ही हाथ से और एक ही समय में नहीं लिखे गये हैं, फिर भी हरिवंश, विष्णु और पद्म ये पुराण पांचवीं शताब्दी से पहले भी किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त इन पुराणों के पहले भी मूल पुराणों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। हरिवंश पुराण से लेकर भागवतपुराण तक के उपर्युक्त पुराणों में आनेवाली कृष्ण के जीवन की घटनाओं को देखने से भी मालूम होता है कि इन घटनाओं में केवल कवित्व की ही दृष्टि से नहीं किन्तु वस्तु की दृष्टि से भी बहुत कुछ विकास हुआ है। हरिवंशपुराण और भागवतपुराण की कृष्ण के जीवन की कथा सामने रखकर पढ़ने से यह विकास स्पष्ट प्रतीत होने लगता है।

दूसरी ओर जैन-साहित्य में कृष्णजीवन की कथा का निरूपण करनेवाले मुख्य ग्रंथ दोनों—दिगम्बर और श्वेताम्बर—सम्प्रदाय में हैं। श्वेताम्बरीय अंग-ग्रंथों में से छठे ज्ञाता और आठवें अंतगड में भी कृष्ण का प्रसंग आता है। वसुदेवहिन्डी (लगभग सातवीं शताब्दी, देखो पृ० ३६८-३६९) जैसे प्राकृत ग्रंथों में कृष्णके जीवन की विस्तृत कथा मिलती है। दिगम्बरीय साहित्य में कृष्ण-जीवन का विस्तृत और मनोरंजक वृत्तान्त बताने वाला ग्रंथ जिनसेनकृत हरिवंशपुराण (विक्रमीय ९वीं शताब्दी) है और गुणभद्रकृत उत्तर पुराण (विक्रमीय ९वीं शताब्दी) में भी कृष्ण की जीवन-कथा है। दिगम्बरीय हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण ये दोनों विक्रम की नौवीं शताब्दी के ग्रंथ हैं।

कृष्ण के जीवन के कुछ प्रसंगों को लेकर देखिये कि वे ब्राह्मण-पुराणों में किस प्रकार वर्णित किये गये हैं और जैन-ग्रंथों में उनका उल्लेख किस प्रकार का है?

तुलना

ब्राह्मण पुराण—

(१) विष्णु के आदेश से योगमाया शक्ति के हाथों बलभद्र का देवकी के गर्भ में से रोहिणी के गर्भ में संहरण होता है।

—भागवत, स्कन्ध १०, अ० २, श्लो० ६-२३, पृ० ७६६

(२) देवकी के जन्मे हुए बलभद्र से पहले के छः सजीव बालकों को कंस पकट-पटक कर मार डालता है।

—भागवत, स्कन्ध १०, अ० २, श्लो० ५

जैनग्रन्थ—

(१) इसमें संहरण की बात नहीं है, बल्कि रोहिणी के गर्भ में सहज जन्म लेने की बात है।

—हरिवंश, सर्ग ३२, श्लो० १-१०, पृ० २३१

(२) वसुदेव हिण्डी (पृ० ३६८-३६९) में देवकी के छः पुत्रों को कंस ने मार डाला, ऐसा स्पष्ट निर्देश है। परन्तु जिनसेन एवं हेमचन्द्र के वर्णन के अनुसार देवकी के गर्भजात छः सजीव बालकों को एक देव, अन्य शहर में, जैन कुटुम्ब में सुरक्षित पहुँचा देता है और उस बाई के मृतक जन्मे हुए छः बालकों को क्रमशः देवकी के पास लाकर रखता है। कंस रोष के मारे जन्म से ही उन मृतक बालकों को पछाड़ता है और उस जैन गृहस्थ के घर पले हुए छः सजीव देवकी-बालक आगे जाकर तीर्थंकर नेमिनाथ के समीप दीक्षा लेकर मोक्ष जाते हैं।

—हरिवंश, सर्ग ३५, श्लो० १-३५, पृ० ३६३-३६४

(३) विष्णु की योगमाया यशोदा के यहाँ जन्म लेकर वसुदेव के हाथों देवकी के पास पहुँचती है और उसी समय देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए कृष्ण वसुदेव के हाथों यशोदा के यहाँ सुरक्षित पहुंचते हैं। आई हुई पुत्री को मार डालने के लिए कंस पटकता है। पर, वह योगमाया होने के कारण निकल भागती है और काली-दुर्गा आदि शक्ति के रूप में पूजी जाती है।

— भागवत दशमस्कन्ध, अ० ४, श्लो० २–१०, पृ० ८०६

(३) यशोदा की तत्काल जन्मी हुई पुत्री कृष्ण के बदले देवकी के पास लाई जाती है। कंस उस जीवित बालिका को मारता नहीं है। वसुदेव हिण्डी के अनुसार नाक काटकर और जिनसेन के कथनानुसार नाक सिर्फ चपटा करके उसे छोड़ देता है। यह बालिका आगे चलकर तरुण अवस्था में एक साध्वी से जैनदीक्षा ग्रहण करती है और जिनसेन के हरिवंश के अनुसार तो यह साध्वी ध्यान अवस्था में मरकर सद्गति पाती है, लेकिन उसकी अँगुली के लोहू भरे हुए तीन टुकड़ों से, वह बाद में त्रिशूलधारिणी काली के रूप में विन्ध्याचल में प्रतिष्ठा पाती है। इस काली के समक्ष होने वाले भैंसों के वध को जिनसेन ने खूब आड़े हाथों लिया है जो आज तक भी विन्ध्याचल में होता है।

– हरिवंश, सर्ग ३९, श्लो० १–५१, पृ० ४५८–४६१

(४) कृष्ण की बाललीला और कुमारलीला में जितने भी असुर कंस द्वारा भेजे हुए आये और उन्होंने कृष्ण को,

(४) ब्राह्मणपुराणों में कंस द्वारा भेजे हुए जो असुर आते हैं वे असुर, जिनसेन के हरिवंश-पुराण के अनुसार कंस द्वारा

बलभद्र को या गोप-गोपियों को सताया है, करीब-करीब वे तमाम असुर, कृष्ण द्वारा या कभी-कभी बलभद्र द्वारा मार डाले गये हैं।

—भागवत स्कन्ध १०, अ० ५–८, पृ० ८१४

पूर्व जन्म में साधी हुई देवियाँ हैं। ये देवियाँ जब कृष्ण, बलभद्र या व्रजवासियों को सताती हैं तब वे कृष्ण द्वारा मारी नहीं जातीं वरन् उन्हें हराकर जीती ही भगा देते हैं। हेमचन्द्र के (त्रिषष्टि० सर्ग ५, श्लो० १२३-१२४) वर्णन के अनुसार कृष्ण, बलभद्र और व्रजवासियों को सताने वाली देवियां नहीं वरन् कंस के पाले हुए उन्मत्त प्राणी हैं। कृष्ण उनका भी वध नहीं करते, किन्तु दयालु जैन की भांति पराक्रमी होने पर भी कोमल हाथ से इन कंस प्रेरित उपद्रवी प्राणियों को हराकर भगा देते हैं।

—हरिवंश, सर्ग ३५, श्लो० ३५-५०, पृ० ३६६-३६७

(५) नृसिंह विष्णु का एक अवतार है और कृष्ण तथा बलभद्र दोनों विष्णु के अंश होने के कारण सदा मुक्त हैं और विष्णुधाम स्वर्ग में विद्यमान है।

—भागवत, प्रथम स्कन्ध, अ० ३, श्लो. १-२४, पृ०१०-११

(५) कृष्ण यद्यपि भविष्यकालीन तीर्थंकर होने के कारण मोक्षगामी हैं किन्तु इस समय युद्ध के फलस्वरूप वे नरक में निवास करते हैं और बलभद्र जैनदीक्षा लेने के कारण स्वर्ग गये हैं। जिनसेन ने बलभद्र को

ही नृसिंह रूप में घटाने की मनोरंजक कल्पना की है और लोक में कृष्ण और बलभद्र की सार्वजनिक पूजा कैसे हुई, इसकी युक्ति कृष्ण ने नरक में रहते-रहते बलभद्र को बताई, ऐसा अति सांप्रदायिक और काल्पनिक वर्णन किया है।

—हरिवंशपुराण, सर्ग ३५, श्लो० १-५५, पृ० ६१८-६२५

(६) द्रौपदी पाँच पांडवों की पत्नी है और कृष्ण पांडवों के परम सखा हैं। द्रौपदी कृष्णभक्त है और कृष्ण स्वयं पूर्णावतार हैं।

—महाभारत

(६) श्वेताम्बरों के अनुसार द्रौपदी के पाँच पति हैं (ज्ञाता १६वां अध्ययन) किन्तु जिनसेन ने अर्जुन को ही द्रौपदी का पति बताया है और उसे एक पतिवाली ही चित्रित किया है (हरिवंश, सर्ग ५४, श्लो० १२-२५), द्रौपदी तथा सभी पांडव जैनदीक्षा लेते हैं। कोई मोक्ष और कोई स्वर्ग जाते हैं। सिर्फ कृष्ण कर्मोदय के कारण जैनदीक्षा नहीं ले सकते फिर भी बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमिके अनन्य उपासक बनकर भावी तीर्थङ्कर पद की योग्यता प्राप्त करते हैं।

—हरिवंश, सर्ग ६५, श्लो० १६ पृ० ६१६-६२०

(७) कृष्ण की रासलीला एवं गोपीक्रीड़ा उत्तरोत्तर अधिक शृंगारमय बनती जाती है और वह भी यहाँ तक कि अन्त में पद्मपुराण में भोग का रूप धारण करके वल्लभ सम्प्रदाय की भावना के अनुसार महादेव के मुख से उसे समर्थन मिलता है।

—पद्मपुराण अ० २४५, श्लो. १७५-१७६, पृ० ८८९-८९०

(७) कृष्ण रास और गोपी क्रीड़ा करते हैं पर वे गोपियों के हावभाव में लुब्ध न होकर एकदम अलिप्त ब्रह्मचारी रहते हैं।

—हरिवंश, सर्ग ३५, श्लो० ६५-६६, पृ० ३६९

(८) इन्द्र ने व्रजवासियों पर जो उपद्रव किये उन्हें शांत करने के लिये कृष्ण गोवर्धन पर्वत को सात दिन तक हाथ से उठाये रखते हैं।

(८) जिनसेन के कथनानुसार इन्द्र द्वारा किये हुए उपद्रवों को शांत करने के लिए नहीं, वरन् कंस द्वारा भेजी हुई देवी के उपद्रवों को शांत करने के लिए कृष्ण ने गोवर्धनपर्वत को उठाया।

—हरिवंश, सर्ग ३५, श्लो० ४८-५०, पृ० ३६७

पुराणों और जैन-ग्रन्थों में वर्णित कृष्ण के जीवन की कथा के ऊपर जो थोड़े से उदाहरण दिये गये हैं उन्हें देखते हुये इस संबंध में शायद ही यह संदेह रहे कि कृष्ण वास्तव में वैदिक या पौराणिक पात्र हैं और जैनग्रन्थों में उन्हें पीछे से स्थान मिला है। पौराणिक कृष्णजीवन की कथा में मार-काट, असुर-संहार और शृंगारी लीलाएँ हैं। जैन-ग्रन्थकारों ने अपनी अहिंसा और त्याग की भावना के अनुसार उन लीलाओं को बदलकर अपने साहित्य में एक भिन्न ही रूप दिया है। यही कारण है कि पुराणों की भाँति जैन-ग्रंथों में न तो कंस द्वारा बालकों की हत्या दिखाई देती है और न कंस के भेजे हुए उपद्रवियों का कृष्ण द्वारा प्राणनाश ही दिखाई पड़ता है। जैसे पृथ्वीराज ने शाहबुद्दीन को छोड़ दिया उसी

प्रकार कंस के भेजे हुए उपद्रवियों को कृष्ण द्वारा जीवित छोड़ने की बात जैनग्रंथों में पढ़ने को मिलती है। यही नहीं बल्कि सिवाय कृष्ण के और सब पात्रों के जैनदीक्षा स्वीकार करने का वर्णन भी हम देखते हैं।

हाँ, यहाँ एक प्रश्न हो सकता है वह यह कि मूल में वसुदेव, कृष्ण आदि की कथा जैनग्रंथों में हो और बाद में वह ब्राह्मण ग्रंथों में भिन्न रूप में क्यों न ढाल दी गई हो? परन्तु जैन आगमों तथा अन्य कथाग्रन्थों में कृष्ण-पांडव आदि का जो वर्णन किया गया है उसका स्वरूप, शैली आदि को देखते हुए इस तर्क के लिए गुंजाइश नहीं रहती। अतएव विचार करने पर यही ठीक मालूम होता है कि जब जनता में कृष्ण की पूजा-प्रतिष्ठा हुई और इस सम्बन्ध का बहुत-सा साहित्य रचा गया और वह लोकप्रिय होता गया तब समय-सूचक जैन लेखकों ने रामचन्द्र की भाँति कृष्ण को भी अपना लिया और पुराणगत कृष्ण-वर्णन में, जैन-दृष्टि से प्रतीत होनेवाले हिंसा के विष को उतार कर उसका जैन-संस्कृति के साथ सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इससे अहिंसा की दृष्टि से लिखे जाने वाले कथा-साहित्य का विकास सिद्ध हुआ।

जब कृष्ण-जीवन के ऊधम और शृंगार से परिपूर्ण प्रसंग जनता में लोकप्रिय होते गये तब यही प्रसंग एक ओर तो जैन-साहित्य में परिवर्तन के साथ स्थान पाते गये और दूसरी ओर उन पराक्रम-प्रधान अद्भुत प्रसंगों का प्रभाव महावीर के जीवन-वर्णन पर होता गया, यह विशेष संभव है। इसी कारण हम देखते हैं कि कृष्ण के जन्म, बालक्रीड़ा और यौवनविहार आदि प्रसंग, मनुष्य या अमनुष्य रूप असुरों द्वारा किये हुए उपद्रव एवं उत्पातों का पुराणों में जो अस्वाभाविक वर्णन है और कृष्ण द्वारा किये गये उन उत्पातों का जो अस्वाभाविक किन्तु मनोरंजक वर्णन है वही अस्वाभाविक होने पर भी जनता के मानस में गहरा उतरा हुआ वर्णन, अहिंसा और त्याग की भावनावाले जैन-ग्रन्थकारों के हाथों योग्य संस्कार पाकर महावीर के जन्म, बालक्रीड़ा और यौवन की साधनावस्था के समय देवकृत विविध घटनाओं के रूप में स्थान

पाता है। पौराणिक वर्णन की विशेष अस्वाभाविकता और असंगति को हटाने के लिए जैन-ग्रन्थकारों का यह प्रयास था किन्तु महावीर-जीवन में स्थान पाये हुए पौराणिक घटनाओं के वर्णन में कुछ अंशों में एक प्रकार की अस्वाभाविकता एवं असंगति रह ही जाती है और इसका कारण तत्कालीन जनता की रुचि है।

३. कथाग्रन्थों के साधनों का पृथक्करण और उनका औचित्य—

अब हम तीसरे दृष्टिबिन्दु पर आते हैं। इसमें विचारणीय यह है कि "जनता में धर्मभावना जागृत रखने तथा सम्प्रदायका आधार मजबूत करने के लिए उस समय कथाग्रन्थों या जीवनवृत्तान्तों में मुख्य रूप से किस प्रकार के साधनों का उपयोग किया जाता था? उन साधनों का पृथक्करण करना और उनके औचित्य का विचार करना।"

उपर जो विवेचना की गई है, वह प्रारम्भ में किसी भी अति-श्रद्धालु साम्प्रदायिक भक्त को आघात पहुँचा सकती है, यह स्पष्ट है क्योंकि साधारण उपासक और भक्त जनता की अपने पूज्य पुरुष के प्रति जो श्रद्धा होती है वह बुद्धिशोधित या तर्कपरिमार्जित नहीं होती। ऐसी जनता के ख्याल से शास्त्र में लिखा हुआ प्रत्येक अक्षर त्रैकालिक सत्यस्वरूप होता है। इसके अतिरिक्त जब उस शास्त्र को त्यागी गुरु या विद्वान् पंडित बाँचता है तब तो इस भोली जनता के मन पर शास्त्र के अक्षरार्थ की यथार्थता की छाप वज्र-लेप सरीखी हो जाती है। ऐसी अवस्था में शास्त्रीय वर्णनों की परीक्षा करने का और परीक्षापूर्वक उसे समझने का कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है, और विशिष्ट वर्ग के लोगों के गले उतरने में भी बहुत समय लगता है और वह बहुत सा बलिदान मांगता है। ऐसी स्थिति सिर्फ जैन-सम्प्रदाय की ही नहीं किन्तु संसार में जितने भी सम्प्रदाय हैं सबकी यही दशा है और इस बात का समर्थक इतिहास हमारे सामने मौजूद है।

यह युग विज्ञानयुग है। इसमें दैवी चमत्कार या असंगत कल्प-नाएँ टिक नहीं सकतीं। अतएव इस समय के दृष्टिकोण से प्राचीन महापुरुषों के चमत्कारप्रधान जीवनचरितों को पढ़ें तो उनमें बहुत

सी असम्बद्धता और काल्पनिकता नजर आवे, यह स्वाभाविक है। परन्तु जिस युग में ये वृत्तान्त लिखे गये, जिन लोगों के लिए लिखे गये और जिस उद्देश्य से लिखे गये, उस युग में प्रवेश करके, लेखक और पाठक के मानस की जांच करके, उसके लिखने के उद्देश्य का विचार करके, गम्भीरतापूर्वक देखें तो हमें अवश्य मालूम होगा कि इस प्राचीन या मध्ययुग में महान् पुरुषों के जीवनवृत्तान्त जिस ढंग से चित्रित किये गये हैं वही ढंग उस समय उपयोगी था। आदर्श चाहे जितना उच्च हो, उसे किसी असाधारण व्यक्ति ने बुद्धि शुद्ध करके भले ही जीवनगम्य कर लिया हो, फिर भी साधारण लोग इस अति सूक्ष्म और अति उच्च आदर्श को बुद्धिगम्य नहीं कर सकते। तो भी उस आदर्श की ओर सबकी भक्ति होती है, सब उसे चाहते हैं, पूजते हैं।

ऐसी अवस्था होने के कारण लोगों की इस आदर्श सम्बन्धी भक्ति और धर्मभावना को जागृत रखने के लिए स्थूल मार्ग स्वीकार करना पड़ता है। जनता की मनोवृत्ति के अनुसार ही कल्पना करके उसके समक्ष यह आदर्श रखना पड़ता है। जनता का मन यदि स्थूल होने के कारण चमत्कारप्रिय और देवदानवों के प्रताप की वासना वाला हुआ तो उसके सामने सूक्ष्म और शुद्धतर आदर्श को भी चमत्कार एवं दैवी बाना पहनाकर रखा जाता है। तभी सर्व-साधारण लोग उसे सुनते हैं और तभी वह उनके गले उतरता है। यही वजह है कि उस युग में धर्मभावना को जागृत रखने के लिए उस समय के शास्त्रकारों ने मुख्य रूप से चमत्कारों और अद्भुतताओं के वर्णन का आश्रय लिया है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि जब अपने पड़ोस में प्रचलित अन्य सम्प्रदायों में देवताई बातों और चमत्कारी प्रसंगों का बाजार गर्म हो तब अपने सम्प्रदाय के अनुयायियों को उस ओर जाने से रोकने का एक ही मार्ग होता है और वह यही कि अपने सम्प्रदाय को टिकाये रखने के लिए वह भी विरोधी और पड़ोसी सम्प्रदाय में प्रचलित आकर्षक बातों के समान या उससे अधिक अच्छी बातें लिखकर जनता के सामने उप-स्थित करे। इस प्रकार प्राचीन और मध्ययुग में धर्मभावना को जागृत रखने तथा सम्प्रदाय को मजबूत करने के लिये भी मुख्य रूप

से मंत्र-तंत्र, जड़ी-बूटी, दैवी चमत्कार आदि असंगत प्रतीत होने वाले साधनों का उपयोग होता था।

गाँधीजी उपवास या अनशन करते थे तब संसार के बड़े से बड़े साम्राज्य के सूत्रधार व्याकुल हो उठते थे। गाँधीजी को जेल से मुक्त करते थे; फिर पकड़ लेते थे और दुबारा उपवास प्रारम्भ होने पर फिर छोड़ देते थे। देशभर में जहाँ गाँधी जी जाते थे वहाँ-वहाँ जनसमुद्र में ज्वार सा उमड़ आता था। कोई उनका अत्यन्त विरोधी भी जब उनके सामने जाता था तो एक बार तो मनोमुग्ध हो गर्वगलित हो ही जाता था। यह एक वास्तविक बात है, स्वाभाविक है और मनुष्यबुद्धिगम्य है। किन्तु यदि इसी बात को कोई दैवी घटना के रूप में वर्णन करे तो न तो कोई बुद्धिमान मनुष्य उसे सुनने या स्वीकार करने को तैयार होगा और न उसका असली मूल्य जो अभी आँका जाता है, कायम रह सकता है। यह युगबल अर्थात् वैज्ञानिक युग का प्रभाव है। यह बल प्राचीन या मध्ययुग में नहीं था अतएव उस समय इसी प्रकार की स्वाभाविक घटना को जबतक दैवी या चमत्कारिक लिबास न पहनाया जाता तब तक लोगों में उसका प्रचार न हो पाता था। यह दोनों युगों का अन्तर है, इसे समझकर ही हमें प्राचीन और मध्ययुग की बातों का तथा जीवनवृत्तान्तों का विचार करना चाहिए।

अब अन्त में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शास्त्र में उल्लिखित चमत्कारपूर्ण और दैवी घटनाओं को आजकल किस अर्थ में समझना और पढ़ना चाहिए? इसका उत्तर स्पष्ट है। वह यह कि किसी भी महान् पुरुष के जीवन में 'शुद्धबुद्धियुक्त पुरुषार्थ' ही सच्चा और मानने योग्य तत्त्व होता है। इस तत्त्व को जनता के समक्ष उपस्थित करने के लिए शास्त्रकार विविध कल्पनाओं की भी योजना करते हैं। धर्मवीर महावीर हों या कर्मवीर कृष्ण हों, किन्तु इन दोनों के जीवन में से सीखने योग्य तत्त्व तो एक ही होता है। धर्मवीर महावीर के जीवन में यह पुरुषार्थ अन्तर्मुख होकर आत्मशोधन का मार्ग ग्रहण करता है और आत्मशोधन के समय आने वाले आन्तरिक या बाह्य-प्राकृतिक समस्त उपसर्गों को यह महान् पुरुष

अपने आत्मबल और दृढ़ निश्चय द्वारा जीत लेते हैं और अपने ध्येय में आगे बढ़ते हैं। यह विजय कोई ऐसा वैसा साधारण मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकता, अतः इस विषय को दैवी विजय कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। कर्मवीर कृष्ण के जीवन में यह पुरुषार्थ बहिर्मुख होकर लोकसंग्रह और सामाजिक नियमन का रास्ता लेता है। इस ध्येय को सफल बनाने में शत्रुओं या विरोधियों की ओर से जो अड़चनें डाली जाती हैं, उन सबको कर्मवीर कृष्ण अपने धैर्य, बल तथा चतुराई से हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं। यह लौकिक सिद्धि साधारण जनता के लिए अलौकिक या दैवी मानी जाय तो कुछ असंभव नहीं। इस प्रकार हम इन दोनों महान् पुरुषों के जीवन को, यदि कलई दूर करके पढ़ें तो उलटे अधिक स्वाभाविकता और संगतता नजर आती है और उनका व्यक्तित्व अधिकतर माननीय, विशेषतया इस युग में, बन जाता है।

उपसंहार—

कर्मवीर कृष्ण के सम्प्रदाय के भक्तों को धर्मवीर महावीर के आदर्श की विशेषताएँ चाहे जितनी दलीलों से समझाई जाँय, किन्तु वे शायद ही पूरी तरह उन्हें समझ सकेंगे। इसी प्रकार धर्मवीर के सम्प्रदाय के अनुयायी भी शायद ही कर्मवीर कृष्ण के जीवनादर्श की खूबियाँ समझ सकें। जब हम इस साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को देखते हैं तो यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि वास्तव में धर्म और कर्म के आदर्शों के बीच ऐसा कोई विरोध है जिससे एक आदर्श के अनुयायी दूसरे आदर्श को एकदम अग्राह्य कर देते हैं या उन्हें वह आग्राह्य प्रतीत होता है ?

विचार करने से मालूम होता है कि शुद्धधर्म और शुद्धकर्म, ये दोनों एक ही आचरणगत सत्य के जुदा-जुदा बाजू हैं। इनमें भेद हैं किन्तु विरोध नहीं है।

सांसारिक प्रवृत्तियों को त्यागना और भोगवासनाओं से चित्तको निवृत्त करना तथा इसी निवृत्ति द्वारा लोककल्याण के लिए प्रयत्न करना अर्थात् जीवन धारण के लिए आवश्यक प्रवृत्तियों की व्यवस्था का भार भी लोकों पर ही छोड़कर सिर्फ उन प्रवृत्तियों

में के क्लेशकलहकारक असंयम रूप विष को दूर करना, जनता के सामने अपने तमाम जीवन द्वारा पदार्थपाठ उपस्थित करना, यही शुद्धधर्म है।

और संसार सम्बन्धी तमाम प्रवृत्तियों में रहते हुए भी उनमें निष्कामता या निर्लेपता का अभ्यास करके, उन प्रवृत्तियों के सामंजस्य द्वारा जनता को उचित मार्ग पर ले जाने का प्रयास करना अर्थात् जीवन के लिए अति आवश्यक प्रवृत्तियों में पग-पग पर आने वाली अड़चनों का निवारण करने के लिए, जनता के समक्ष अपने समग्र जीवन द्वारा लौकिक प्रवृत्तियों का भी निर्विष रूप से पदार्थ-पाठ उपस्थित करना, यह शुद्धकर्म है।

यहाँ लोककल्याण की वृत्ति यह एक सत्य है। उसे सिद्ध करने के लिये जो दो मार्ग हैं वे एक ही सत्य के धर्म और कर्म रूप दो बाजू हैं। सच्चे धर्म में सिर्फ निवृत्ति ही नहीं किन्तु प्रवृत्ति भी होती है। सच्चे कर्म में केवल प्रवृत्ति ही नहीं मगर निवृत्ति भी होती है। दोनों में दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं, फिर भी गौणता और मुख्यता का तथा प्रकृति-भेद का अन्तर है। अतः इन दोनों तरीकों से स्व तथा पर कल्याणरूप अखण्ड सत्य को साधा जा सकता है। ऐसा होने पर भी धर्म के नाम से अलग-अलग सम्प्रदायों की स्थापना क्यों हुई, यह एक रहस्य है। किन्तु यदि साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो इस अनुद्घाट्य प्रतीत होने वाले रहस्य का उद्घाटन स्वयमेव हो जाता है।

स्थूल या साधारण लोग जब किसी आदर्श की उपासना करते हैं तो साधारणतया वे उस आदर्श के एकाध अंश को अथवा उसके ऊपर के खोखले से ही चिपट कर उसी को सम्पूर्ण आदर्श मान बैठते हैं। ऐसी मनोदशा के कारण धर्मवीर के उपासक, धर्म का अर्थ अकेली निवृत्ति समझ कर उसी की उपासना में लग गये और अपने चित्त में प्रवृत्ति के संस्कारों का पोषण करते हुए भी प्रवृत्ति अंश को विरोधी समझ कर अपने धर्मरूप आदर्श से उसे जुदा रखने की भावना करने लगे। दूसरी ओर कर्मवीर के भक्त कर्म का अर्थ सिर्फ प्रवृत्ति करके, उसी को अपना परिपूर्ण आदर्श मान बैठे और

प्रवृत्ति के साथ जुड़ने योग्य निवृत्ति के तत्त्व को एक किनारे करके प्रवृत्ति को ही कर्म समझने लगे। इस प्रकार धर्म और कर्म दोनों के उपासक एक दूसरे के बिलकुल विपरीत आमने-सामने के किनारों पर जा बैठे। उसके पश्चात् एक दूसरे के आदर्श को अधूरा, अव्यवहार्य अथवा हानिकारक बताने लगे। परिणाम यह हुआ कि सांप्रदायिक मानस ऐसे विरुद्ध संस्कारों से गढ़ा जा चुका है कि यह बात समझना भी अब कठिन हो गया है कि धर्म और कर्म ये दोनों एक ही सत्य के दो बाजू हैं। यही कारण है कि धर्मवीर महावीर और कर्मवीर कृष्ण के पंथ में परस्पर विरोध, अन्यमनस्कता और उदासीनता दिखाई पड़ती है।

यदि विश्व में सत्य एक ही हो और उस सत्य की प्राप्ति का मार्ग एक ही न हो तो भिन्न-भिन्न मार्गों से उस सत्य के समीप किस प्रकार पहुंच सकते हैं, इस बात को समझने के लिये विरोधी और भिन्न-भिन्न दिखाई देने वाले मार्गों का उदार और व्यापक दृष्टि से समन्वय करना प्रत्येक धर्मात्मा और प्रतिभाशाली पुरुष का आवश्यक कर्त्तव्य है। अनेकान्तवाद की उत्पत्ति वास्तव में ऐसी ही विश्वव्यापी भावना और दृष्टि स हुई है।

इस जगह एक धर्मवीर और एक कर्मवीर के जीवन की कुछ घटनाओं की तुलना करने के विचार में से यदि हम धर्म और कर्म के व्यापक अर्थ का विचार कर सकें तो यह चर्चा शब्दपटु पंडितों का कोरा विवाद न बनकर राष्ट्र और विश्व की एकता में उपयोगी होगी।

ई० १९३२] [अनु० पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल।

भगवान् महावीर

[उनके जीवन की विविध भूमिकाएँ]

प्रायः सभी जैन भगवान् महावीर की जीवन-कथा से थोड़ा-बहुत तो परिचित होते ही हैं। पर्युषण के दिनों में हम उस कथा को पढ़ते-सुनते आये हैं और जब इच्छा हो उस विषय का साहित्य जुटा कर पढ़ भी सकते हैं। इसलिये आज के दिन भगवान् के जीवन की सम्पूर्ण कथा या उसमें से कुछ घटनाओं को सुनाने की पुनरुक्ति नहीं करना है। फिर भी मैं कुछ ऐसा कहना चाहता हूं जिससे कि भगवान् के वास्तविक जीवन का परिचय प्राप्त करने की दिशा में हमारी प्रगति हो सके और भगवान् महावीर के ही अनुयायी गिने जाने वाले वर्ग में उनके जीवन के विषय में परस्पर विरुद्ध जो अनेक कल्पनाएँ चालू हैं और जो प्रायः परस्पर टकराने के कारण सम्प्रदायभेद का कारण बन जाती हैं, उनके मूल कारण को भी हम जान सकें जिससे कि आपसी मतभेद दूर होकर भगवान् महावीर के जीवन का गम्भीर रहस्य भी हम पा सकें। मैं यहाँ जो कहूंगा उसका आधार स्वानुभव ही है। दूसरे भाई-बहन अपने अनुभव का उसके साथ मिलान करके यदि मेरे कथन का विचार करेंगे तो फलस्वरूप भगवान् के जीवन की समझ कुछ बढ़ेगी ही।

कोई एक व्यक्ति दूर से किसी चित्र को देखे तब उसे उस चित्र का भास अमुक प्रकार का होता है। वही व्यक्ति उसी चित्र को यदि निकट से देखे तो उसकी दृष्टिमर्यादा में चित्र का भास अधिक स्पष्ट हो उठता है। किन्तु वही व्यक्ति यदि अधिक एकाग्र होकर उस चित्र को अपने हाथ में लेकर विशेष सूक्ष्मता से निरीक्षण करे तो उसे चित्र की खूबियों का विशेष प्रमाण में भान होता है। जैसा चित्र के विषय में है वैसा मूर्ति के विषय में भी है। किसी भव्य

मंदिर में भगवान् महावीर जैसे धर्मपुरुष की सुरेख और शान्त मूर्ति हो, उसे देखने वाला एक व्यक्ति मन्दिर के प्रांगण में खड़ा होकर, दूसरा रंगमण्डप में और तीसरा व्यक्ति गर्भगृह में जाकर मूर्ति का निरीक्षण करता हो तब सभी की एकाग्रता और श्रद्धा समान होने पर भी उनकी दृष्टिमर्यादा में मूर्ति का प्रतिभास न्यूनाधिक मात्रा में भिन्न-भिन्न प्रकार का ही होगा।

चित्र और मूर्ति के दृष्टान्त को जीवन-कथा में लागू करके उसका विश्लेषण किया जाय तब मेरा मूल वक्तव्य स्पष्ट हो जायगा। जिन में भगवान् महावीर जैसे धर्मपुरुष का जीवन वर्णित हो उनमें से किसी एक या अधिक पुस्तकों को पढ़-सुन कर जब हम उनके जीवन का परिचय प्राप्त करते हैं तब मन में जीवन की छाप एक प्रकार की उठती है। पुनः उसी पठित जीवन के विविध प्रसंगों के विषय में उठने वाले नाना प्रश्नों का तर्कबुद्धि से निराकरण किया जाय तब पहला पढ़ा या सुना जीवन-परिचय बहुत विषयों में नया रूप धारण करता है। यह परिचय प्राथमिक परिचय की अपेक्षा अधिक गंभीर, उत्कट और स्पष्ट बन जाता है। मन की यह दूसरी भूमिका श्रवण की प्रथम भूमिका में प्राप्त और पुष्ट श्रद्धासंस्कारों के विरुद्ध कुछ बातों में क्रान्ति करने की प्रेरणा भी अर्पित करती है। श्रद्धा और बुद्धि के इस द्वन्द्व के फलस्वरूप जिज्ञासु उस द्वन्द्व से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अधिक प्रयत्न करता है। परिणामतः जिज्ञासु अब तथ्य के शोध में और भी गहराई में जाता है। पहले उसने जिस किसी सर्वमान्य या बहुमान्य जीवनकथा को पढ़-सुन कर श्रद्धा को पुष्ट किया होता है या जिस किसी जीवनपुस्तक के विषय में अनेकविध तर्क-वितर्क किये होते हैं, उसी पुस्तक का मूल खोजने की ओर ही वह अब प्रवृत्त होता है। उसके दिल में ऐसा होता है कि जिस पुस्तक के आधार से मैं जीवन के विषय में सोचता हूं उस पुस्तक में वर्णित प्रसंग-घटनाओं का मूल आधार क्या है अर्थात् किन मौलिक आधारों से यह जीवनकथा लिखी गई है। ऐसी जिज्ञासा उसे जीवन-कथा की मौलिक सामग्री की खोज के लिए प्राप्त सामग्री की परीक्षा के लिए प्रेरित करता है। ऐसे परीक्षण के फलस्वरूप जो जीवन-कथा प्राप्त होती है, जो इष्ट पुरुष के जीवन का परिचय प्राप्त

होता है वह प्रथम श्रवण की ओर दूसरी तर्क या मनन की भूमिका में प्राप्त होने वाले परिचय की अपेक्षा अनेकगुना अधिक विशद, उत्कट और सप्रमाण होता है। संशोधन या निदिध्यासन की यह तीसरी भूमिका ही जीवन का सम्पूर्ण रहस्य प्राप्त करने वाली अंतिम भूमिका नहीं है। ऐसी भूमिका तो भिन्न ही है। इसके विषय में आगे कुछ कहा जायगा।

मैंने भगवान् महावीर के जीवन के बारे में कल्पसूत्र जैसी पुस्तकों को पढ़-सुन कर जन्म से प्राप्त श्रद्धा के संस्कारों को पुष्ट किया था। मेरी उस श्रद्धा में भगवान् महावीर के अलावा किसी भी अन्य धर्म-पुरुष को स्थान नहीं था। श्रद्धा का वह चौका जितना छोटा और संकुचित था उतना ही उसमें विचार का प्रकाश भी कम था। किंतु धीरे-धीरे श्रद्धा की उस भूमिका में प्रश्न और तर्क-वितर्क के रूप में बुद्धि के अंकुर फूटे। प्रश्न हुआ कि क्या एक माता के गर्भ से दूसरी माता के गर्भ में भगवान् के संक्रमण की बात संभव हो सकती है? ऐसी प्रश्नावली जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे श्रद्धा ने भी उसके सामने सर उठाया। किन्तु विचार और तर्क के प्रकाश ने उसके सामने अवनत होना स्वीकार नहीं किया। इस उत्थान-पतन के के तुमुल द्वन्द्व का परिणाम शुभ ही हुआ। अब मैं बुद्ध, राम, कृष्ण, क्राइस्ट और जरथुस्त जैसे धर्मपुरुषों के और अन्य संतों के जीवन भी पढ़ने और समझने लगा और मैंने देखा कि उन सभी जीवनों में चमत्कार के अलंकारों की कोई मर्यादा ही न थी। प्रत्येक जीवन में एक दूसरे से बढ़कर और अधिकांश में एक सरीखे चमत्कार दिखाई दिये, तब मन में हुआ कि जीवन-कथा का मूलाधार ही तलाश करना चाहिए। भगवान् के साक्षात् जीवन के ऊपर तो ढाई हजार वर्षों का दुर्भेद परदा पड़ा हुआ ही है। तब क्या जो जीवन-वर्णन मिलता है वह उन्होंने स्वयं ही किसी से कहा था या निकटवासी शिष्यों ने उसे लिख लिया था या यथावत् स्मृति में ही रखा था? वस्तुतः इस प्रकार के प्रश्नों ने भगवान् के जीवन की यथार्थ झाँकी करा सके ऐसे अनेक प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन की ओर मुझे प्रवृत्त किया; इसी प्रकार बुद्ध और राम कृष्ण आदि धर्मपुरुषों के, जीवन-मूल जानने की ओर भी प्रवृत्त किया। एक ओर प्राथमिक श्रद्धा

अपनी पकड़ में से मुझे मुक्त नहीं करती थी, दूसरी ओर विचार-प्रकाश तथा नया-नया अवलोकन ये भी अपना पंजा फैलाते ही जाते थे। इसी खींचा-तान में से अन्त में तटस्थता का लाभ हुआ। जैनों ने जिसको सामायिक कहा है वैसा सामायिक—समत्व मन्थनकाल के दरमियान उदय में आने लगा और इस समत्व ने एकांगी बुद्धि और एकांगी श्रद्धा का न्याय किया अर्थात् दोनों को काबू में लिया। इसी समत्व ने मुझे सुझाया कि धर्मपुरुष के जीवन में जो सजीव और जो जागरित धर्मदेह होता है उसे चमत्कारों के आवरणों से क्या मतलब? यह धर्मदेह तो चमत्कार के आवरण बिना ही स्वयंप्रकाश दिगम्बरदेह है। इसके बाद देखता हूं तो सभी महापुरुषों के जीवन में दिखाई देने वाली असंगतियाँ अपने आप ही खिसकती हुई नजर आईं। यद्यपि इस निदिध्यासन की तीसरी भूमिका अभी संपूर्ण नहीं है फिर भी इस भूमिका ने अब तक अनेक प्रकार के साहित्य का मंथन कराया और अनेक जीवित धर्मपुरुषों का समागम करने की प्रेरणा दी तथा जोर देकर कुछ कह सकूँ ऐसी मनःस्थिति भी प्रस्तुत की। श्रद्धा और तर्क की एकांगी प्रवृत्ति बन्द हो गई। सत्य जानने और प्राप्त करने की वृत्ति अधिक तीव्र हो गई।

इस भूमिका में अब मुझे यह समझ में आ गया कि एक ही महापुरुष के जीवन के जिज्ञासुओं में उसके जीवन की अमुक घटना या प्रसंग को लेकर किस कारण से मदभेद हो जाता है और क्यों वे एकमत नहीं हो सकते। जो जिज्ञासुवर्ग श्रवण-वाचन की प्राथमिक श्रद्धा भूमिका में होता है वह दूर से मूर्ति या चित्र को देखने वाले के समान शब्दस्पर्शी श्रद्धालु होता है। उसके विचार से प्रत्येक शब्द यथार्थता का बोधक होता है। वह शब्द के वाच्यार्थ से आगे बढ़ कर उसकी संगति-असंगति के विषय में विचार नहीं करता और ऐसा करने से शास्त्र मिथ्या हो जायगा—इस मिथ्या भ्रम में पड़कर श्रद्धा के बल से विचार के प्रकाश का विरोध करता है। उसका द्वार ही बन्द करने का यत्न करता है।

दूसरा तर्कवादी जिज्ञासुवर्ग मुख्यरूप से शब्द के वाच्यार्थ की

असंगति की ओर ही ध्यान देता है और उन दृश्यमान असंगतियों के पीछे रही हुई संगतियों की सर्वथा अवहेलना करके जीवनकथा को ही कल्पित मान लेता है। इसी प्रकार अपरिमार्जित श्रद्धा और शिथिल तर्क ये दो ही पारस्परिक विरोध के कारण हैं। संशोधन और निदिध्यासन की भूमिका में ये कारण :नहीं रहते इससे मन स्वस्थता से श्रद्धा और बुद्धि इन दोनों पंखों का आश्रय लेकर सत्य की ओर अग्रसर होता है।

तीसरी भूमिका में अब तक जो प्रगति मेरे मन ने सिद्ध की है उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि उसमें प्रथम और दूसरी भूमिका समाविष्ट हो जाती है। अब मेरे सामने भगवान् महावीर का जो चित्र या जो मूर्ति उपस्थित है उसमें उनकी जीवनकथा में जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त पद-पद पर उपस्थित होने वाले करोड़ों देवों की दिखाई देने वाली असंगति और गर्भापहरण जैसी असंगति लुप्त हो जाती है। संशोधन निर्मित मेरी कल्पना के महावीर केवल मानवकोटि के और वह भी मानवता की सामान्य भूमिका को पुरुषार्थ बल से अतिक्रान्त करने वाले महामानव रूप हैं। जैसे प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रचारक अपने इष्टदेव को सामान्य जनता के चित्त में प्रतिष्ठित करने के लिए अनायास ही दैवी चमत्कार इष्टदेव के जीवन में ग्रथित कर देते हैं, वैसे जैन-संप्रदाय के आचार्य भी यदि करें तो उसे चालू प्रथा का प्रतिबिम्ब ही मानना चाहिए। ललित-विस्तर आदि बौद्धग्रंथ बुद्ध के जीवन में ऐसे ही चमत्कारों का वर्णन करते हैं। हरिवंश और भागवत भी कृष्ण के जीवन को इसी प्रकार से आलोकित करते हैं। बाइबल भी दिव्य चमत्कारों से मुक्त नहीं है। किन्तु महावीर के जीवन में देवों की उपस्थिति का तात्पर्य निकालना हो तो वह यही हो सकता है कि महावीर ने सत्पुरुषार्थ द्वारा अपने जीवन में मानवता के आध्यात्मिक अनेक दिव्य सद्गुणों की विभूति प्राप्त की थी। ऐसी सूक्ष्म मनोगम्य विभूति साधारण जनता को सुगम करनी हो तो वह स्थूल रूपक के द्वारा ही हो सकती है। जहाँ स्वर्गीय देवों को उच्च स्थान प्राप्त हो वहाँ वैसे देवों के रूपक द्वारा ही दिव्य विभूति के वर्णन का संतोष

पुष्ट किया जा सकता है। गर्भ-अपहरण के रहस्य में भी ऐसा ही कुछ रूपक होने की कल्पना होती है। कर्मकाण्ड की जटिल और रूढ़ सनातन प्रथा के ब्राह्मणसुलभ संस्कार गर्भ में से महावीर का जीव कर्मकाण्डभेदी, क्रान्तिकारक, ज्ञान-तपोमार्ग के क्षत्रियसुलभ संस्कार गर्भ में अवतीर्ण हुआ — ऐसा ही अर्थ घटाना होगा। उस काल में गर्भापहरण की बात को लोग सरलता से समझ जाते थे और भक्त शंका नहीं करते थे अतएव गर्भापहरण के रूपक के ब्याज से संस्कार के गर्भ का संक्रमण वर्णित हुआ है ऐसा मानना पड़ता है। जन्म लेते ही अंगुष्ठ मात्र से महावीर सुमेरु जैसे पर्वत का कम्पन करते हैं यह कथा कृष्ण के गोवर्धन उत्तोलन की कथा की तरह केवल हास्यास्पद है किन्तु यदि उसे रूपक मान कर अर्थघटना की जाय तो उसका जो रहस्य है वह तनिक भी असंगत प्रतीत नहीं होता। आध्यामिक साधना के जन्म में प्रवेश करते ही अपने समक्ष उपस्थित और भविष्य के गर्भ में छिपे ऐसे आन्तर बाह्य प्रत्यवायों और परीषहों के सुमेरु को दृढ़ निश्चय बल-रूप अंगुष्ठ मात्र से कंपित किया, जीत लिया या जीतने का निश्चय किया यही उसका तात्पर्य समझना चाहिए। ऐसी सभी असंगतिओं से मुक्त जो चित्र उपस्थित होता है उसमें तो महावीर केवल करुणा और सत्पुरुषार्थ की मूर्तिरूप में ही दिखाई देते हैं।

जैनों के प्राचीनतम सूत्र आचारांग में उनके जो उद्गार सुरक्षित हैं और भगवती आदि गन्थों में उनके जो विश्वसनीय संवाद उपलब्ध हैं उन सबके आधार से भगवान् का संक्षिप्त जीवन इस प्रकार का फलित होता है—

उनको विरासत में ही धर्मसंस्कार मिले थे। बचपन से ही निर्ग्रन्थ परम्परा की अहिंसावृत्ति विशेषरूप से उनमें आविर्भूत हुई थी। इस वृत्ति को उन्होंने इतना विकसित किया था कि जिससे वे अपने निमित्त से किसी के, सूक्ष्म जन्तु तक के भी, दुःख में वृद्धि न हो इस प्रकार के जीवनयापन के लिए प्रयत्नशील थे। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप उन्होंने ऐसा अपरिग्रह व्रत धारण किया जिससे कपड़े या गृह का आश्रय भी त्याज्य हो गया। जब देखो तब महावीर

एक ही बात कहते नजर आते हैं कि सारा संसार दुःखी है, अपनी आरामतलबी के लिए दूसरों के दुःखों को मत बढ़ाओ। दूसरों के सुख में भागीदार मत बनो किन्तु उनके दुःख को हल्का करने या उनके निवारण में सतत प्रयत्नशील बनो। महावीर इसी एक बात को अनेकरूप में कहते थे। वे अपने संपर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से कहते थे कि मन, वचन और काय की एकता सिद्ध करो। तीनों का संवादी संगीत सिद्ध करो; जो विचारो उसी को करो; और जो सोचो वह भी ऐसा हो कि जिसमें क्षुद्रता और पामरता न हो। अपने आन्तरिक शत्रुओं को ही शत्रु समझो और उनको जीतने में ही वीरता दिखाओ। महावीर का कहना है कि यदि इस विषय में निमेष मात्र का भी प्रमाद होगा तो जीवन का महामूल्यवान् सदंश—दिव्य अंश निरर्थक होगा और पुनः प्राप्त होना कठिन होगा।

महावीर को जो तत्त्वज्ञान विरासत में मिला था और तदनुसार उन्होंने जो आचरण किया था वह संक्षेप में यही है कि जड़ और चेतन ये दो तत्त्व वस्तुतः भिन्न हैं और वे परस्पर प्रभावित करने के लिए उद्यत हैं इसी से कर्मवासना की आसुरी वृत्ति और चैतन्य तथा सत्पुरुषार्थ की दैवी वृत्तिओं के बीच देवासुर संग्राम सतत होता रहता है। किन्तु अंत में चैतन्य का प्रकाशक निश्चल बल ही जड़-वासना के अन्धबल को परास्त कर सकता है। इस तत्त्वज्ञान की गहरी समझ ने ही उनमें आध्यात्मिक स्पन्दन को उत्पन्न किया था और इसी से वे सिर्फ वीर ही नहीं, महावीर बने। उनके समग्र उपदेश में उनकी यही महावीरता प्रस्फुटित होती है। उनकी जाति, क्या थी ? उनका जन्मस्थान कहाँ था ? माता-पिता और दूसरे स्नेही कौन-कैसे थे ? गरीब या समृद्ध ? इत्यादि स्थूल जीवन से सम्बद्ध प्रश्नों का होना स्वाभाविक है। उसमें अनेक अतिशयोक्तियाँ होंगी, रूपकों को स्थान मिलेगा, किन्तु जीवन-शुद्धि और मानवता के उत्कर्ष में उपकारक बन सके ऐसी उनकी जीवन-रेखा तो ऊपर जो मैंने संक्षेप में आलेखित की है वही है और आज मैं महावीर के उसी जीवनांश पर जोर देना चाहता हूं। इसी में हमारे जैसे तथाकथित अनुयायी भक्तों और जिज्ञासुओं की श्रद्धा और बुद्धि

दोनों की कसौटी है। भगवान् का उक्त जीवन तीनों काल में कभी पुराना या बासी होने वाला नहीं है। जैसे-जैसे उसका उपयोग करेंगे वैसे वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नित्यनूतन अरुणोदय के समान प्रकाशमान रहने वाला है और सच्चे साथी का काम करने वाला है।

उन ब्राह्मण-क्षत्रिय महावीर का आचार अहिंसा की पारमार्थिक भूमि के आधार पर किस प्रकार घटित हुआ था और उनका विचार अनेकान्त की सत्य-दृष्टि को किस प्रकार स्पर्श करता था इसका हूबहू चित्र प्राचीन आगमों में जब देखते हैं तब नतमस्तक हो जाते हैं। मारो मारो करके कोई भी धँस आवे तो उसके प्रति मन से भी रोष न करना, उसके लेशमात्र अहित का चिन्तन न करना यही उनकी अहिंसा की विशेषता है। कैसे भी विरोधी दृष्टिबिन्दु और अभिप्रायों का प्रतिवाद करते हुए उनमें रहे हुए अत्यल्प सत्य को जरा सी भी उपेक्षा बिना किये ही सत्य की साधना को पूर्ण करना यही उनके अनेकान्त की विशेषता है।

मेरे मन में निदिध्यासन की तृतीय भूमिका के फलस्वरूप महावीर का जो चित्र अंकित हुआ है या जो मूर्ति निर्मित हुई है उसकी आधारशिला श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय मात्र है। इसमें श्रद्धा के चौके की संकीर्णता संशोधन के फलस्वरूप लुप्त हो गई है। उसका वर्तुल इतना विस्तीर्ण हुआ है कि अब उसमें जन्मगत संस्कार के आधार पर केवल महावीर का ही स्थान नहीं रहा है किन्तु उसमें महावीर के अलावा उनके तथाकथित प्रतिस्पर्धी और तद्व्यतिरिक्त ऐसे प्रत्येक धर्मपुरुष को स्थान मिला है। आज मेरी श्रद्धा किसी भी धर्मपुरुष के बहिष्कार करने को तत्पर हो ऐसी संकीर्ण नहीं रही है और बुद्धि भी किसी एक ही धर्मपुरुष के जीवन की जिज्ञासा करके ही कृतार्थता का अनुभव नहीं करती। जिस कारण से श्रद्धा और बुद्धि महावीर के आसपास गतिशील थे उसी कारण से वे दोनों आज बुद्ध, कृष्ण और क्राइस्ट आदि अनेक अतीत संतों के आसपास भी गतिशील रहते हैं। संशोधन और निदिध्यासन की भूमिका के कारण ही मेरे मन में गांधीजी की व्यापक अहिंसा और अनेकान्त

दृष्टि की प्रतिष्ठा को पूरा अवकाश मिला है। मुझे जहाँ कहीं से भी सद्गुण जानने और प्राप्त करने की प्रेरणा मूलतः भगवान् महावीर के जीवन से ही मिली है। इस पर से मैं यह कहना चाहता हूं कि किसी भी महापुरुष के जीवन को सिर्फ ऊपर-ऊपर से सुन कर उस पर श्रद्धा करना या सिर्फ तर्कबल से उसकी समीक्षा करना यह जीवन-विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। उस दिशा मे प्रगति की इच्छा रखने वाले के लिए श्रवण-मनन के उपरान्त निदिध्यासन करना आवश्यक है।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि संशोधन-कार्य में कितना ही श्रम क्यों न किया हो फिर भी मेरी वह भूमिका अत्यन्त अपूर्ण ही है। उसका प्रदेश विस्तृत है। यह अतिश्रम, अतिसमय, अति-एकाग्रता और अति-तटस्थता की अपेक्षा रखती है। मेरे मन में अंकित महावीर का चित्र कैसा भी क्यों न हो फिर भी वह परोक्ष ही है। जब तक महावीर का जीवन जीया न जाय, उनकी आध्यात्मिक साधना को अपने जोवन में सिद्ध न किया जाय तब तक उनके आध्यात्मिक जीवन का साक्षात्कार हजार प्रयत्न करने पर भी संशोधन की भूमिका पर से हो नहीं सकता। यह सत्य मैं जानता हूं इसी से नम्र बनता हूं। प्रथम दिये गये चित्र या मूर्ति के दृष्टांत का आश्रय लेकर वक्तव्य स्पष्ट करना हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि कितना ही निकट जाकर चित्र या मूर्ति का द्रष्टा भी आखिर में तो चित्र की रेखाकृत और रंग की खूबियों या मूर्तिगत शिल्पविधान की खूबियों को ही अधिक बारीकी से जान सकेगा और अधिक हुआ तो उन खूबियों से व्यक्त होने वाले भावों का संवेदन कर सकेगा किन्तु जिसका चित्र या मूर्ति हो उसके जीवन का साक्षात् अनुभव तो वह द्रष्टा तब ही कर सकेगा जब कि वह स्वयं वैसा जीवन जीयेगा। सर्वश्रेष्ठ कवि के महाकाव्य का कितना ही आकलन क्यों न किया जाय फिर भी काव्य में वर्णित जीवन का जब तक साक्षात् स्वानुभव न हो तब तक वह परोक्षकोटि में ही रहता है। इसी प्रकार भगवान् महावीर के द्वारा सिद्ध की गई आध्यात्मिक साधना की दिशा में गतिहीन मेरे जैसा मनुष्य महावीर के विषय में

जो कुछ कहे या सोचे वह परोक्ष कोटि का ही होगा यह कहने की शायद ही आवश्यकता है।

मेरे इस वक्तव्य से आप लोग यह समझ सकते हैं कि एक ही महापुरुष की समान जीवन-सामग्री का उपयोग करने वाले तद्विदों और अनुयायिओं में भी किस-किस कारण से विरोधी अभिप्राय बद्धमूल होते हैं और उसी सामग्री का अमुक दृष्टि से उपयोग करने पर किस प्रकार अभिप्रायविरोध शान्त हो जाता है तथा जीवन के मूलभूत और सर्वोत्तम श्रद्धा-बुद्धि के दिव्य अंश किस प्रकार अपनी कला पाँख को विस्तृत करते हैं।

[अनु०—दलसुख मालवणिया]

भगवान् महावीर का जीवन

[एक ऐतिहासिक दृष्टिपात]

वीर-जयन्ती और निर्वाणतिथि हर साल आती है। इसके उपलक्ष्य में लगभग सभी जैनपत्र भगवान् के जीवन पर कुछ न कुछ लिखने का प्रयत्न करते हैं। कोई-कोई पत्र महावीराङ्क रूप से खास विशेष अंक निकालने की भी योजना करते हैं। यह सिलसिला पिछले अनेक वर्षों से अन्य सम्प्रदायों की देखादेखी जैन परम्परा में भी चालू है और संभवतः आगे भी चालू रहेगा।

सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के अलावा भी भगवान् के जीवन के बारे में छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखने का क्रम वैसा ही जारी है जैसे कि उसकी माँग है। पुराने समय से इस विषय पर लिखा जाता रहा है। प्राकृत और संस्कृत भाषा में जुदे-जुदे समय में जुदे-जुदे स्थानों पर जुदी-जुदी दृष्टि वाले जुदे-जुदे अनेक लेखकों द्वारा भगवान् का जीवन लिखा गया और वह बहुतायत से उपलब्ध भी है। नये युग की पिछली एक शताब्दी में तो यह जीवन अनेक भाषाओं में देशी-विदेशी, साम्प्रदायिक-असाम्प्रदायिक लेखकों द्वारा लिखा गया है। जर्मन, अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती, बंगला और मराठी आदि भाषाओं में इस जीवन विषयक छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध हुई हैं और मिलती भी हैं। यह सब होते हुए भी नये वर्ष की नई जयन्ती या निर्वाणतिथि के उपलक्ष्य में महावीर-जीवन पर कुछ नया लिखने की भारपूर्वक माँग हो रही है। इसका क्या कारण है ? सो खास कर समझने की बात है। इस कारण को समझने से हम यह ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि पुराने समय से आज तक की महावीर जीवन विषयक उपलब्ध इतनी लिखित-मुद्रित सामग्री हमारी जिज्ञासा को तृप्त करने में समर्थ क्यों नहीं होती ?

भगवान् महावीर एक ही थे। उनका जीवन जैसा कुछ रहा हो सुनिश्चित अमुक रूप का ही रहा होगा। तद्विषयक जो सामग्री अभी शेष है उससे अधिक समर्थ समकालीन सामग्री अभी मिलने की कोई संभावना नहीं। जो सामग्री उपलब्ध है उसका उपयोग आज तक के लिखित जीवनों में हुआ ही है तो फिर नया क्या बाकी है जिसकी माँग हर साल जयंती या निर्वाणतिथि के अवसर पर बनी रहती है और खास तौर से सम्पूर्ण महावीर जीवन विषयक पुस्तक की माँग तो हमेशा बनी हुई रहती ही है। ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका वास्तविक उत्तर बिना समझे महावीर जीवन पर कुछ सोचना, लिखना या ऐसे जीवन की लेखकों से माँग करना यह निरा वार्षिक जयंती-कालीन व्यसनमात्र सिद्ध होगा या पुनरावृत्ति का चक्र मात्र होगा जिससे हमें बचना चाहिये।

पुराने समय से आज तक की जीवन विषयक सब पुस्तकें और छोटे-बड़े सब लेख प्रायः साम्प्रदायिक भक्तों द्वारा ही लिखे गये हैं। जैसे राम, कृष्ण, क्राइस्ट, मुहम्मद आदि महान् पुरुषों के बारे में उस सम्प्रदाय के विद्वानों और भक्तों ने लिखा है। हाँ, कुछ थोड़े लेख और विरल पुस्तकें असाम्प्रदायिक जैनेतर विद्वानों द्वारा भी लिखी हुई हैं। इन दोनों प्रकार के जीवन-लेखों में एक खास गुण है तो दूसरी खास त्रुटि भी है। खास गुण तो यह है कि सांप्रदायिक विद्वानों और भक्तों के द्वारा जो कुछ लिखा गया है उसमें परम्परागत अनेक यथार्थ बातें सरलता से आ गई हैं, जैसी असाम्प्रदायिक और दूरवर्ती विद्वानों के द्वारा लिखे गये जीवनलेखों में कभी-कमी आ नहीं पाती। परन्तु त्रुटि और बड़ी भारी त्रुटि यह है कि साम्प्रदायिक विद्वानों और भक्तों का दृष्टिकोण हमेशा ऐसा रहा है कि येन केन प्रकारेण अपने इष्टदेव को सबसे ऊँचा और असाधारण दिखाई देने वाला चित्रित किया जाय। सर्व सम्प्रदाय में पाई जाने वाली इस अतिरंजक साम्प्रदायिक दृष्टि के कारण महावीर, मानव महावीर न रह कर कल्पित देव-से बन गये हैं जैसा कि बौद्ध परम्परा में बुद्ध और पौराणिक परम्परा में राम-कृष्ण तथा क्रिश्च्यानिटी में क्राइस्ट मानव मिट कर देव या देवांश बन गये हैं।

इस युग की खास विशेषता वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। विज्ञान और इतिहास सत्य के उपासक हैं। वे सत्य के सामने और सब बातों को वृथा समझते हैं। यह सत्यगवेषक वृत्ति ही विज्ञान और इतिहास की प्रतिष्ठा का आधार है। इसलिए इन दोनों की लोगों के मन के ऊपर इतनी अधिक प्रभावशाली छाप पड़ी है कि वे वैज्ञानिक दृष्टि से अप्रमाणित और इतिहास से असिद्ध ऐसी किसी वस्तु को मानने के लिए तैयार नहीं। यहाँ तक कि हजारों वर्षों से चली आने वाली और मानस में स्थिर बनी हुई प्राणप्रिय मान्यताओं को भी (यदि वे विज्ञान और इतिहास से विरुद्ध हैं तो) छोड़ने में नहीं हिचकिचाते, प्रत्युत वे ऐसा करने में अपनी कृतार्थता समझते हैं। वर्तमान युग भूतकालीन ज्ञान की विरासत को थोड़ा भी बर्बाद करना नहीं चाहता। उसके एक अंश को वह प्राण से भी अधिक मानता है; पर साथ ही वह उस विरासत के विज्ञान और इतिहास से प्रसिद्ध अंश को एक क्षण भर के लिए भी मानने को तैयार नहीं। नये युग के इस लक्षण के कारण वस्तु-स्थिति बदल गई है। महावीर जीवन विषयक लेख पुस्तक आदि कितनी ही सामग्री प्रस्तुत क्यों न हो पर आज का जिज्ञासु उस सामग्री के बड़े ढेर मात्र से सन्तुष्ट नहीं। वह तो यह देखना चाहता है कि इसमें कितना तर्कबुद्धिसिद्ध और कितना इतिहाससिद्ध है? जब इस वृत्ति से वह आज तक के महावीर-जीवनविषयक लेखों को पढ़ता है, सोचता है तब उसे पूरा संतोष नहीं होता। वह देखता है कि इसमें सत्य के साथ कल्पित भी बहुत मिला है। वह यदि भक्त हो तो किसी तरह से अपने मन को मना ले सकता है; पर वह दूसरे तटस्थ जिज्ञासुओं का पूरा समाधान कर नहीं पाता। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण का प्रभाव इतना अधिक गहरा पड़ा है कि खुद महावीर के परम्परागत अनुयायियों को भी अपनी नई पीढ़ी का हर बात में समाधान करना मुश्किल हो गया है। यही एकमात्र वजह है कि चारों ओर से महावीर के ऐतिहासिक जीवन लिखे जाने की मांग हो रही है और कहीं-कहीं तदर्थ तैयारियाँ भी हो रही हैं।

आज का कोई तटस्थ लेखक ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर जीवन लिखेगा तो उसी सामग्री के आधार से लिख सकता है कि जिस सामग्री के आधार से पहले से आज तक के लेखकों ने लिखा है। फर्क यदि है या हो सकता है तो दृष्टिकोण का। दृष्टिकोण ही सच्चाई या गैर-सच्चाई का एकमात्र प्राण है और प्रतिष्ठा का आधार है। उदाहरणार्थ महावीर का दो माता और दो पिता के पुत्र रूप से प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन है। इसे साम्प्रदायिक दृष्टि वाला भी लेता है और ऐतिहासिक दृष्टि वाला भी। पर इस असंगत और अमानवीय दिखाई देने वाली घटना का खुलासा साम्प्रदायिक व्यक्ति एक तरह से करता है और ऐतिहासिक व्यक्ति दूसरी तरह से। हजारों वर्ष से माना जाने वाला उस असंगति का साम्प्रदायिक खुलासा लोक-मानस में इतना घर कर गया है कि दूसरा खुलासा सुनते ही वह मानस भड़क उठता है। फिर भी नई ऐतिहासिक दृष्टि ने ऐसी स्थिति पैदा की है कि उस चिर-परिचित खुलासे से लोक-मन का अन्तस्तल जरा भी सन्तुष्ट नहीं। वह तो कोई नया बुद्धिगम्य खुलासा पाना चाहता है या उस दो माता, दो पिता की घटना को ही असंगत कह कर जीवन में से सर्वथा निकाल देना चाहता है। यही बात तत्कालजात शिशु महावीर के अंगुष्ठ के द्वारा मेरु-कम्पन के बारे में है या पद-पद पर महावीर के आसपास उपस्थित होने वाले लाखों-करोड़ों देव-देवियों के वर्णन के बारे में है। कोई भी तर्क और बुद्धि से मानव-जीवन पर विचार करने वाला ऐसा नहीं होगा जो यह मानने को तैयार हो कि एक तत्काल पैदा हुआ बालक या मल्लकुस्ती किया हुआ जवान अपने अँगूठे से पर्वत तो क्या एक महती शिला को भी कम्पा सके! कोई भी ऐतिहासिक यह मान नहीं सकता और साबित नहीं कर सकता कि देव-सृष्टि कहीं दूर है और उसके दिव्य सत्त्व किसी तपस्वी की सेवा में सदा हाजिर रहते हैं। ये और इनकी जैसी दूसरी अनेक घटनाएँ महावीर जीवन में वैसे ही आती हैं जैसे अन्य महापुरुषों के जीवन में। साम्प्रदायिक व्यक्ति उन घटनाओं को जीवनी लिखते समय न तो छोड़ सकता है और न उनका चालू अर्थ से दूसरा अर्थ ही लगा सकता है। इस कारण से वह महावीर की जीवनी को नई पीढ़ी के

लिए प्रतीतिकर नहीं बना सकता। जब कि ऐतिहासिक व्यक्ति कितनी ही असंगत दिखाई देने वाली पुरानी घटनाओं को या तो जीवनी में स्थान ही नहीं देगा या उनका प्रतीतिकर अर्थ लगावेगा जिसे सामान्य बुद्धि भी समझ और मान सके। इतनी चर्चा से यह भलीभाँति जाना जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण असंगत दिखाई देने वाली जीवन घटनाओं को ज्यों का त्यों मानने को तैयार नहीं, पर वह उन्हें बुद्धिग्राह्य कसौटी से कस कर सच्चाई की भूमिका पर लाने का प्रयत्न करेगा। यही सबब है कि वर्तमान युग उसी पुरानी सामग्री के आधार से, पर ऐतिहासिक दृष्टि से लिखे गये महावीर जीवन को ही पढ़ना-सुनना चाहता है। यही समय की माँग है।

महावीर की जीवनी में आनेवाली जिन असंगत तीन बातों का उल्लेख मैंने किया है उनका ऐतिहासिक खुलासा किस प्रकार किया जा सकता है इसे यहाँ बतला देना भी जरूरी है :—

मानव-वंश के तो क्या पर समग्र प्राणी-वंश के इतिहास में भी आज तक ऐसी कोई घटना बनी हुई विदित नहीं है जिसमें एक संतान की दो जनक माताएँ हों। एक संतान के जनक दो-दो पिताओं की घटना का तो कल्पना में भी आना मुश्किल है। तिस पर भी जैन आगमों में महावीर की जनक रूप से दो माताओं का वर्णन है। एक तो क्षत्रियाणी सिद्धार्थपत्नी त्रिशला और दूसरी ब्राह्मणी ऋषभदत्तपत्नी देवानन्दा। पहिले तो एक बालक की दो जननियाँ ही असंभव तिस पर दोनों जननियों का भिन्न-भिन्न पुरुष की पत्नियों के रूप से होना तो और भी असम्भव है। आगम के पुराने भागों में महावीर के जो नाम मिलते हैं उनमें ऐसा एक भी नाम नहीं है जो देवानन्दा के साथ उनके माता-पुत्र के सम्बन्ध का सूचक हो फिर भी भगवती[1] जैसे महत्त्वपूर्ण आगम में ही अपने मुख्य गणधर इन्द्रभूति को संबोधित करके खुद भगवान् द्वारा ही ऐसा कहलाया गया है कि—यह देवनन्दा मेरी जननी है इसी से मुझे देखकर उसके

१. भगवती शतक ९ उद्देश ६।

थन दूध से भर गये हैं और हर्ष-रोमाञ्च हो आये हैं। भगवती[1] में दूसरी जगह देवों की गर्भापहरण-शक्ति का महावीर ने इन्द्रभूति को लक्षित करके वर्णन किया है पर उस जगह उन्होंने अपने गर्भापहरण का कोई निर्देश तक नहीं किया है। हाँ, महावीर के गर्भापहरण का वर्णन आचारांग के अन्तिम भाग में है पर वह भाग आचार्य हेमचन्द्र के कथनानुसार ही कम से कम महावीर के अनंतर दो सौ वर्ष के बाद का तो है ही। ऐसी स्थिति में किसी भी समझदार के मन में यह प्रश्न हुए बिना रह नहीं सकता कि जब एक संतान की एक ही माता संभव है तब जननी रूप से महावीर की दो माताओं का वर्णन शास्त्र में आया कैसे? और इस असंगत दिखाई देने वाली घटना को संगत बनाने के गर्भ-संक्रमण—जैसे बिल्कुल अशक्य कार्य को देव के हस्तक्षेप से शक्य बनाने की कल्पना तक को शास्त्र में स्थान क्यों दिया गया? इस प्रश्न के और भी उत्तर या खुलासे हो सकते हैं पर मुझे जो खुलासे संभवनीय दिखते हैं उनमे से मुख्य ये हैं :—

१—महावीर की जननी तो ब्राह्मणी देवानन्दा ही है, क्षत्रियाणी त्रिशला नहीं।

२—त्रिशला जननी तो नहीं है पर वह भगवान् को गोद लेने वाली या अपने घर पर रख कर संवर्धन करने वाली माता अवश्य है।

अगर वास्तव में ऐसा ही हो तो परम्परा में उस बात का विपर्यास क्यों हुआ और शास्त्र में अन्यथा बात क्यों लिखी गई?—यह प्रश्न होना स्वाभाविक है।

मैं इस प्रश्न के दो खुलासे सूचित करता हूं :—

१—पहिला तो यह कि त्रिशला सिद्धार्थ की अन्यतम पत्नी होगी जिसे अपना कोई औरस पुत्र न था। स्त्रीसुलभ पुत्रवासना की पूर्ति उसने देवानन्दा के औरस पुत्र को अपना बना कर की होगी। महावीर का रूप, शील और स्वभाव ऐसा आकर्षक होना चाहिए

१. भगवती शतक ५ उद्देश ४।

कि जिसके कारण त्रिशला ने अपने जीते जी उन्हें उनकी सहज वृत्ति के अनुसार दीक्षा लेने की अनुमति दी न होगी। भगवान् ने भी त्रिशला का अनुसरण करना ही कर्त्तव्य समझा होगा।

२—दूसरा यह भी संभव है कि महावीर छोटी उम्र से ही उस समय ब्राह्मण-परंपरा में अतिरूढ़ हिंसक यज्ञ और दूसरे निरर्थक क्रिया-काण्डों कुलधर्म से विरुद्ध संस्कार वाले—त्याग प्रकृति के थे। छोटी उम्र में ही किसी निर्ग्रन्थ-परंपरा के त्यागी भिक्षु के संसर्ग में आने का मौका मिला होगा और उस निर्ग्रन्थ संस्कार से साहजिक त्यागवृत्ति की पुष्टि हुई होगी।

महावीर के त्यागाभिमुख संस्कार, होनहार के योग्य शुभ लक्षण और निर्भयता आदि गुण देखकर उस निर्ग्रन्थ गुरु ने अपने पक्के अनुयायी सिद्धार्थ और त्रिशला के यहाँ उनको संवर्धन के लिए रखा होगा जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र को छोटी उम्र से ही गुरु देवचन्द्र ने अपने भक्त उदयन मंत्री के यहाँ संवर्धन के लिए रखा था। महावीर के सद्गुणों से त्रिशला इतनी आकृष्ट हुई होगी कि उसने अपना ही पुत्र मानकर उनका संवर्धन किया। महावीर भी त्रिशला के सद्भाव और प्रेम के इतने अधिक कायल होंगे कि वे उसे अपनी माता ही समझते और कहते थे। यह सम्बन्ध ऐसा पनपा कि त्रिशला ने महावीर के त्याग-संस्कार को पुष्टि की पर उन्हें अपने जीते जी निर्ग्रन्थ बनने की अनुमति न दी। भगवान् ने भी माता की इच्छा का अनुसरण किया होगा। खुलासा कोई भी हो—हरहालत में महावीर, त्रिशला और देवानन्दा अपना पारस्परिक सम्बन्ध तो जानते ही थे। कुछ दूसरे लोग भी इस जानकारी से वंचित न थे। आगे जाकर जब महावीर उग्र-साधना के द्वारा महापुरुष बने तब त्रिशला का स्वर्गवास हो चुका था। महावीर स्वयं सत्यवादी संत थे इसलिए प्रसंग आने पर मूल बात को नहीं जाननेवाले अपने शिष्यों को अपनी असली माता कौन है इसका हाल बतला दिया। हाल बतलाने का निमित्त इसलिए उपस्थित हुआ होगा कि अब भगवान् एक मामूली व्यक्ति न रहकर बड़े भारी धर्मसंघ के मुखिया बन गये थे और आसपास के लोगों में बहुतायत से यही बात प्रसिद्ध

थी कि महावीर तो त्रिशलापुत्र हैं जब इनेगिने लोग कहते थे कि नहीं, महावीर तो देवानन्दा ब्राह्मणी के पुत्र हैं। यह विरोधी चर्चा जब भगवान् के कानों तक पहुँची तब उन्होंने सच्ची बात कह दी कि मैं तो देवानन्दा का पुत्र हूं। भगवान् का यही कथन भगवती के नवम शतक में सुरक्षित है और त्रिशलापुत्र रूप से उनकी जो लोकप्रसिद्धि थी वह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में सुरक्षित है। उस समय तो विरोध का समाधान भी ठीक-ठीक हो गया—दोनों प्रचलित बातें परंपरा में सुरक्षित रहीं और एक बात एक आगम में तो दूसरी दूसरे आगम में निर्दिष्ट भी हुई। महावीर के निर्वाण के बाद दो सौ चार सौ वर्ष में जब साधु-संघ में एक या दूसरे कारण से अनेक मतान्तर और पक्षभेद हुए तब आगम-प्रामाण्य का प्रश्न उपस्थित हुआ जिसने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को तो पूरा प्रमाण मान लिया पर दूसरे आगमों के बारे में संशय उपस्थित किया, उस परंपरा में तो भगवान् की एकमात्र त्रिशलापुत्र रूप से प्रसिद्धि रह गई और आगे जाकर उसने देवानन्दा के पुत्र होने की बात को बिल्कुल काल्पनिक कहकर छोड़ दिया। यही परंपरा आगे जाकर दिगंबर परंपरा में समा गई। परंतु जिस परंपरा ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध की तरह दूसरे आगमों को भी अक्षरशः सत्य मान कर प्रमाण रूप से मान रखा था उसके सामने विरोध उपस्थित हुआ, क्योंकि शास्त्रों में कहीं भगवान् की माता का त्रिशला रूप से तो कहीं देवानंदा के रूप से सूचन था। उस परंपरा के लिये एक बात का स्वीकार और दूसरे का इंकार करना तो शक्य ही न रह गया था। समाधान कैसे किया जाय? यह प्रश्न आचार्यों के सामने आया। असली रहस्य तो अनेक शताब्दियों के गर्भ में छिप ही गया था।

वसुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ को सातवें महीने में दिव्यशक्ति के द्वारा दूसरी पत्नी रोहिणी के गर्भ में रखे जाने की जो बात साधारण लोगों में व पौराणिक आख्यानों में प्रचलित थी उसने तथा देवसृष्टि की पुरानी मान्यता ने किसी विचक्षण आचार्य को नई कल्पना करने को प्रेरित किया जिसने गर्भापहरण की अद्भुत घटना को एक आश्चर्य कहकर शास्त्र में स्थान दे दिया। फिर तो अक्षरशः

शास्त्र के प्रामाण्य को मानने वाले अनुयायियों के लिए कोई शंका या तर्क के लिए गुंजाइश ही न रह गई कि वे असली बात जानने का प्रयत्न करें। देव के हस्तक्षेप द्वारा गर्भापहरण की जो कल्पना शास्त्रारूढ़ हो गई उसकी असंगति तो महाविदेह के सीमंधर स्वामी के साथ संबंध जोड़कर टाली गई फिर भी कर्मवाद के अनुसार यह तो प्रश्न था ही कि जब जैनसिद्धांत जन्मगत जातिभेद या जातिगत ऊँच-नीच भाव को नहीं मानता और केवल गुणकर्मानुसार ही जातिभेद की कल्पना को मान्य रखता है तो उसे महावीर के ब्राह्मणत्व पर क्यों क्षत्रियत्व स्थापित करने का आग्रह रखना चाहिए? अगर ब्राह्मण-कुल तुच्छ और अनधिकारी ही होता तो इन्द्रभूति आदि सभी ब्राह्मण-गणधर बन कर केवली कैसे हुए? अगर क्षत्रिय हो उच्च कुल के हों तो फिर महावीर के अनन्य भक्त श्रेणिक आदि क्षत्रिय नरक में क्यों कर गये? स्पष्ट है कि जैन-सिद्धांत ऐसी जातिगत कोई ऊँच-नीचता की कल्पना को नहीं मानता पर जब गर्भापहरण द्वारा त्रिशलापुत्र रूप से महावीर की फैली हुई प्रसिद्धि के समाधान का प्रयत्न हुआ तब ब्राह्मण-कुल के तुच्छत्वादि दोषों की असंगत कल्पना को भी शास्त्र में स्थान मिला और उस असंगति को संगत बनाने के काल्पनिक प्रयत्न में से मरीचि के जन्म में नीचगोत्र बाँधने तक की कल्पना कथा-शास्त्र में आ गई। किसी ने यह नहीं सोचा कि ये मिथ्या कल्पनाएँ उत्तरोत्तर कितनी असंगतियाँ पैदा करती जाती हैं और कर्मसिद्धांत का ही खून करती हैं? मेरी उपर्युक्त धारणा के विरुद्ध यह भी दलील हो सकती है कि भगवान् की जननी त्रिशला ही क्यों न हो और देवानन्दा उनकी धातृमाता हो। इस पर मेरा जवाब यह है कि देवानन्दा धातृमाता होती तो उसका उस रूप से कथन करना कोई लाघव की बात न थी। क्षत्रिय के घर पर धातृमाता कोई भी हो सकती है। देवानन्दा का धातृमाता रूप से स्वाभाविक उल्लेख न करके उसे मात्र माता रूप से निर्दिष्ट किया है और गर्भापहरण की असत् कल्पना तक जाना पड़ा है सो धातृपक्ष में कुछ भी करना न पड़ता और सहज वर्णन आ जाता।

अब हम सुमेरुकम्पन की घटना पर विचार करें:—उनकी असं-

गति तो स्पष्ट है फिर भी इस घटना को पढ़ने वाले के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि आगमों में गर्भापहरण जैसी घटना ने महावीर की जीवनी में स्थान पाया है तो जन्म-काल में अंगुष्ठ मात्र से किये गये सुमेरु के कम्पन जैसी अद्भुत घटना को आगमों में ही स्थान क्यों नहीं दिया है ? इतना ही नहीं बल्कि आगमकाल से अनेक शताब्दियों के बाद रची गई निर्युक्ति व चूर्णि जिसमें कि भगवान् का जीवन निर्दिष्ट है उसमें भी उस घटना का कोई जिक्र नहीं है। महावीर के पश्चात् कम से कम हजार-बारहसौ वर्ष तक में रचे गये और संग्रह किये गये वाङ्मय में जिस घटना का कोई जिक्र नहीं है वह यकायक सब से पहिले 'पउमचरियं' में कैसे आ गई ? यह प्रश्न कम कुतूहलवर्धक नहीं है। हम जब इसके खुलासे के लिए आसपास के साहित्य को देखते हैं तो हमें किसी हद तक सच्चा जवाब भी मिल जाता है।

वाल्मीकि रामायण में दो प्रसंग हैं—पहिला प्रसंग युद्धकाण्ड में और दूसरा उत्तरकाण्ड में आता है। युद्धकाण्ड में हनुमान् के द्वारा समूचा कैलास-शिखर उठाकर रणाँगण में—जहाँ कि घायल लक्ष्मण पड़ा था—ले जाकर रखने का वर्णन है जब कि उत्तर-काण्ड में रावण द्वारा समूचे हिमालय को हाथ में तौलने का तथा महादेव द्वारा अंगुष्ठमात्र से रावण के हाथ में तौले हुए हिमालय को दबाने का वर्णन है। इस तरह हरिवंश आदि प्राचीन पुराणों में कृष्ण द्वारा सात रोज तक गोवर्धनपर्वत को उठाये रखने का भी वर्णन है। पौराणिक व्यास राम और कृष्ण जैसे अवतारी पुरुषों की कथा सुनने वालों का मनोरंजन उक्त प्रकार की अद्भुत कल्पनाओं के द्वारा कर रहे हों तब उस वातावरण के बीच रहने वाले और महावीर का जीवन सुनाने वाले जैन-ग्रन्थकार स्थूल भूमिका वाले अपने साधारण भक्तों का मनोरंजन पौराणिक व्यास की तरह ही कल्पित चमत्कारों से करें तो यह मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल ही है। मैं समझता हूं कि अपने-अपने पूज्य पुरुषों की महत्तासूचक घटनाओं के वर्णन की होड़ा-होड़ी में (स्पर्धा में) पड़कर सभी महापुरुषों की जीवनी लिखनेवालों ने सत्यासत्य का विवेक कमोबेश रूप से खो दिया है। इसी दोष के कारण सुमेरुकम्पन का प्रसंग महा-

वीर की जीवनी में आ गया है।

तीसरी बात देवसृष्टि की है। श्रमण-परंपरा में मानवीय चरित्र और पुरुषार्थ का ही महत्त्व है। बुद्ध की तरह महावीर का महत्त्व अपने चरित्र-शुद्धि के असाधारण पुरुषार्थ में है। पर जब शुद्ध आध्यात्मिक धर्म ने समाज का रूप धारण किया और उसमें देव-देवियों की मान्यता रखनेवाली जातियाँ दाखिल हुईं तब उनके देवविषयक वहमों की तुष्टि और पुष्टि के लिए किसी-न-किसी प्रकार से मानवीय जीवन में देवकृत चमत्कारों का वर्णन अनिवार्य हो गया। यही कारण है कि महावस्तु और ललितविस्तर जैसे ग्रन्थों में बुद्ध की गर्भावस्था में उनकी स्तुति करने देवगण आते हैं और लुम्बिनी-वन में (जहाँ कि बुद्ध का जन्म हुआ) देवदेवियाँ जाकर पहिले से सब तैयारियाँ करती हैं। ऐसे दैवी चमत्कारों से भरे ग्रंथों का प्रचार जिस स्थान में हो उस स्थान में रहने वाले महावीर के अनुयायी उनकी जीवनी को बिना दैवी चमत्कारों के सुनना पसन्द करें यह सम्भव ही नहीं है। मैं समझता हूं इसी कारण से महावीर की सारी सहज जीवनी में देवसृष्टि की कल्पित छाँट आ गई है।

पुरानी जीवन-सामग्री का उपयोग करने में साम्प्रदायिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण में दूसरा भी एक महान् फर्क है, जिसके कारण साम्प्रदायिक भाव से लिखी गई कोई भी जीवनी सार्वजनिक प्रतिष्ठा पा नहीं सकती। वह फर्क यह है कि महावीर जैसे आध्यात्मिक पुरुष के नाम पर चलने वाला सम्प्रदाय अनेक छोटे-बड़े फिरकों में स्थूल और मामूली मतभेदों को तात्त्विक और बड़ा तूल देकर बंट गया है। प्रत्येक फिरका अपनी मान्यता को पुरानी और मौलिक साबित करने के लिए उसका सम्बन्ध किसी भी तरह से महावीर से जोड़ना चाहता है। फल यह होता है कि अपनी कोई मान्यता यदि किसी भी तरह से महावीर के जीवन से सम्बद्ध नहीं होती तो वह फिरका अपनी मान्यता के विरुद्ध जाने वाले महावीर जीवन के उस भाग के निरूपक ग्रन्थों तक को (चाहे वह कितने ही पुराने क्यों न हों) छोड़ देता है, जब कि दूसरे फिरके भी अपनी-अपनी मान्यता के लिए वैसी ही खिंचातानी करते हैं। फल यह होता

है कि जीवनी की पुरानी सामग्री का उपयोग करने में भी सारा जैन-सम्प्रदाय एकमत नहीं। ऐतिहासिक का प्रश्न वैसा नहीं है। उसे किसी फिरके से कोई खास नाता या बेनाता नहीं होता है। वह तटस्थ भाव से सारी जीवन-सामग्री का जीवनी लिखने में विवेकदृष्टि से उपयोग करता है। वह न तो किसी फिरके की खुशामद करता है और न किसी को नाराज करने की कोशिश करता है। चाहे कोई फिरका उसकी बात माने या न माने, वह अपनी बात विवेक, निष्पक्षता और निर्भयता से कहेगा व लिखेगा। इस तरह ऐतिहासिक का प्रयत्न सत्यमुखी और व्यापक बन जाता है। यही कारण है कि नवयुग उसी का आदर करता है।

अब हम संक्षेप में यह देखेंगे कि ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर-जीवन लिखने की *क्या-क्या सामग्री है ?*

सामग्री के मुख्य तीन स्रोत हैं। साहित्यिक, भौगोलिक तथा परंपरागत आचार व जीवन। साहित्य में वैदिक, बौद्ध और जैन प्राचीन वाङ्मय का समावेश होता है। भौगोलिक में उपलब्ध वे ग्राम, नदी, नगर, पर्वत आदि प्रदेश हैं जिनका सम्बन्ध महावीर के जीवन में प्रसंग-प्रसंग पर आता है। परंपरा से प्राप्त वह आचार और जीवन भी जीवनी लिखने में उपयोगी हैं जिनका एक या दूसरे रूप से महावीर के जीवन तथा उपदेश के साथ एवं महावीर की पूर्व परंपरा और समकालीन परंपरा के साथ सम्बन्ध है, चाहे वह उस पुराने रूप में भले ही आज न हो और परिवर्तित एवं विकृत हो गया हो। ऐतिहासिक दृष्टि उक्त सामग्री के किसी भी अंश की उपेक्षा नहीं कर सकती और इसके अलावा भी कोई अन्य स्रोत मालूम हो जाय तो वह उसका भी स्वागत करेगी।

ऊपर जिस सामग्री का निर्देश किया है, उसका उपयोग ऐतिहासिक दृष्टि से जीवनी लिखने में किस-किस तरह किया जा सकता है इस पर यहाँ थोड़े में प्रकाश डालना जरूरी है। किसी भी महान् पुरुष की जीवनी को जब हम पढ़ते हैं तब उसके लेखक बहुधा इष्ट पुरुषों की लोगों के मन पर पड़ी हुई महत्ता की छाप को कायम रखने और उसे और भी पुष्ट करने के लिए सामान्य जन-समाज में

प्रचलित ऐसी महत्तासूचक कसौटियों पर अधिकतर भार देते हैं और वे महत्ता की असली जड़ को बिल्कुल भुला न दें तो भी उसे गौण तो कर ही देते हैं अर्थात् उस पुरुष की महत्ता की असली चावी पर उतना भार वे नहीं देते जितना भार साधारण लोगों की मानी हुई महत्ता की कसौटियों का वर्णन करने पर देते हैं। इसका फल यह होता है कि जहाँ एक तरफ से महत्ता का मापदण्ड बनावटी हो जाता है वहाँ दूसरी तरफ से उस पुरुष की असली चावी का मूल्यांकन भी धीरे-धीरे लोगों की दृष्टि में ओझल हो जाता है। सभी महान् पुरुषों की जीवनियों में यह दोष कमोबेश देखा जाता है। भगवान् महावीर की जीवनी को उस दोष से बचाना हो तो हमें साधारण लोगों की रूढ़ रुचि की पुष्टि का विचार बिना किये ही असली वस्तु का विचार करना होगा।

भगवान् के जीवन के मुख्य दो अंश हैं—एक तो आत्मलक्षी—जिसमें अपनी आत्मशुद्धि के लिए किये गये भगवान् के समग्र पुरुषार्थ का समावेश होता है।

दूसरा अंश वह है जिसमें भगवान् ने परलक्षी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की है। जीवनी के पहिले अंश का पूरा वर्णन तो कहीं भी लिखा नहीं मिलता फिर भी उसका थोड़ा-सा पर प्रामाणिक और अतिरंजनरहित प्राचीन वर्णन भाग्यवश आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध के नवम अध्ययन में अभी तक सुरक्षित है। इससे अधिक पुराना और अधिक प्रामाणिक कोई वर्णन अगर किसी ने लिखा होगा तो वह आज सुरक्षित नहीं है। इसलिए प्रत्येक ऐतिहासिक लेखक को भगवान् की साधनाकालीन स्थिति का चित्रण करने में मुख्य रूप से वह एक ही अध्ययन उपयोगी हो सकता है। भले ही वह लेखक *इस अध्ययन में वर्णित साधना की पुष्टि के लिए अन्य-अन्य आगमिक* भागों से सहारा ले पर उसे भगवान् की साधना कैसी थी इसका वर्णन करने के लिए उक्त अध्ययन को ही केन्द्र-स्थान में रखना होगा।

यद्यपि वैदिक परंपरा के किसी ग्रन्थ में भगवान् के नाम तक

का निर्देश नहीं है फिर भी जब तक हम प्राचीन[1] शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थ और आपस्तम्ब, कात्यायन आदि श्रौत-सूत्र न देखें तब तक हम भगवान् की धार्मिक-प्रवृत्ति का न तो ठीक-ठीक मूल्य आंक सकते हैं और न ऐसी प्रवृत्ति का वर्णन करने वाले आगमिक भागों की प्राचीनता और महत्ता को ही समझ सकते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के जीवन में विविध यज्ञों का धर्मरूप से कैसा स्थान था और उनमें से अनेक यज्ञों में गाय, घोड़े, भेड़, बकरे आदि पशुओं का तथा मनुष्य तक का कैसा धार्मिक वध होता था एवं अतिथि के लिए भी प्राणियों का वध धर्म्य माना जाता था–इस बात की आज हमें कोई कल्पना तक नहीं हो सकती है जब की हजारों वर्ष से देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पुरानी यज्ञप्रथा ही बन्द हो गई है और कहीं-कहीं व कभी-कभी कोई यज्ञ करते भी हैं तो वे यज्ञ बिलकुल ही अहिंसक होते हैं।

धर्मरूप से अवश्य कर्त्तव्य माने जाने वाले पशुवध का विरोध करके उसे आम तौर से रोकने का काम उस समय उतना कठिन तो अवश्य था जितना कठिन आज के कत्लखानों में होने वाले पशुवध को बंद कराना है। भगवान् ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन महान् संतों की तरह इस कठिन कार्य को करने में कोर-कसर उठा रखी न थी। उत्तराध्ययन के यज्ञीय अध्ययन में जो यज्ञीय हिंसा का आत्यन्तिक विरोध है वह भगवान् की धार्मिक-प्रवृत्ति का महत्व और अगले जमाने पर पड़े हुए उसके असर को समझने के लिए जीवनी लिखने वाले को ऊपर सूचित वैदिक-ग्रन्थों का अध्ययन करना ही होगा।

धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मग आदि तीन वर्णों का आदर तो एक-सा ही था। तीनों वर्ण वाले यज्ञ के अधिकारी थे। इसलिए वर्ण की जुदाई होते हुए भी इसमें छुआछूत का भाव न था पर विकट सवाल

---

१. शतपथ ब्राह्मण का० ३; अ० ७, ८, ९। का० ४; अ० ६। का० ५; अ० १, २, ५। का० ६; अ० २। का० ११; अ० ७, ८। का० १२; अ० ७। का० १३; अ० १, २, ५ इत्यादि। कात्यायन श्रौतसूत्र—अच्युत ग्रन्थमाला भूमिकागत यज्ञों का वर्णन।

तो शूद्रों का था। धर्मक्षेत्र में प्रवेश की बात[1] तो दूर रही पर उनका दर्शन तक कैसा अमंगल माना जाता था, इसका वर्णन हमें पुराने ब्राह्मण-ग्रन्थों में स्पष्ट मिलता है। शूद्रों को अस्पृश्य मानने का भाव वैदिक परंपरा में इतना गहरा था कि धार्मिक पशुवध का भाव इतना गहरा न था। यही कारण है कि बुद्ध-महावीर जैसे संतों के प्रयत्नों से धार्मिक पशुवध तो बन्द हुआ पर उसके हजार प्रयत्न करने पर भी अस्पृश्यता का भाव उसी पुराने युग की तरह आज भी मौजूद है। इतना ही नहीं बल्कि ब्राह्मण-परंपरा में रूढ़ हुए उस जातिगत अस्पृश्यता के भाव का खुद महावीर के अनुयायियों पर भी ऐसा असर पड़ा है कि वे भगवान् महावीर की महत्ता को तो अस्पृश्यता-निवारण के धार्मिक-प्रयत्न से आँकते और गाते हैं फिर भी वे खुद ही ब्राह्मण-परंपरा के प्रभाव में आकर शूद्रों की अस्पृश्यता को अपने जीवन-व्यवहार में स्थान दिये हुए हैं। ऐसी गहरी जड़वाले छुआछूत के भाव को दूर करने के लिए भगवान् ने निन्दा-स्तुति की परवाह किए प्रबल पुरुषार्थ किया था और वह भी धार्मिक क्षेत्र में। ब्राह्मण-परंपरा अपने सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-धर्म में शूद्रों का दर्शन तक सहन करती न थी तब बुद्ध आदि अन्य संतों की तरह महावीर चाण्डाल जैसे अति शूद्रों को भी अपने साधुसंघ में वैसा ही स्थान देते थे जैसा कि ब्राह्मण आदि अन्य वर्णों को। जैसे गाँधीजी ने अस्पृश्यता को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए शूद्रों को धर्ममंदिर में स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है वैसे ही महावीर ने अस्पृश्यता को उखाड़ फेंकने के लिए शूद्रों को मूर्धन्यरूप अपने साधुसंघ में स्थान दिया था। महावीर के बाद ऐसे किसी जैन आचार्य या गृहस्थ का इतिहास नहीं मिलता कि जिसमें उसके द्वारा अति शूद्रों को साधुसंघ में स्थान दिये जाने के सबूत हों। दूसरी तरफ से सारा जैन समाज अस्पृश्यता के बारे में ब्राह्मण-परंपरा के प्रभाव से मुक्त नहीं है। ऐसी स्थिति में उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन ग्रन्थ में एक चाण्डाल को जैन दीक्षा दिये जाने की जो घटना वर्णित है[2] और

१. शतपथ ब्राह्मण का० ३, अ० १ ब्रा० १।
२. अध्ययन १२।

अगले जैन तर्क-ग्रन्थों[1] में जातिवाद का जो प्रबल खण्डन है उसका क्या अर्थ है ? ऐसा प्रश्न हुए बिना नहीं रहता। इस प्रश्न का इसके सिवाय दूसरा कोई खुलासा ही नहीं है कि भगवान् महावीर ने जातिवाद[2] का जो प्रबल विरोध किया था वह किसी न किसी रूप में पुराने आगमों में सुरक्षित रह गया है। भगवान् द्वारा किये गये इस जातिवाद के विरोध के तथा उस विरोध के सूचक आगमिक भागों के महत्व का मूल्यांकन ठीक-ठीक करना हो तो भगवान् की जीवनी लिखने वाले को जातिवाद के समर्थक प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थों को देखना ही होगा।

महावीर ने बिल्कुल नई धर्म-परंपरा को चलाया नहीं है किंतु उन्होंने पूर्ववर्त्ती पार्श्वनाथ की धर्म-परंपरा को ही पुनरुज्जीवित किया है। वह पार्श्वनाथ की परंपरा कैसी थी, उसका क्या नाम था इसमें महावीर ने क्या सुधार या परिवर्तन किया, पुरानी परंपरा वालों के साथ संघर्ष होने बाद उनके साथ महावीर के सुधार का कैसा समन्वय हुआ, महावीर का निज व्यक्तित्व मुख्यतया किस बात पर अवलंबित था, महावीर के प्रतिस्पर्धी मुख्य कौन-कौन थे, उनके साथ महावीर का मतभेद किस-किस बात में था, महावीर आचार के किस अंश पर अधिक भार देते थे, कौन-कौन राजे-महाराजे आदि महावीर को मानते थे, महावीर किस कुल में हुए इत्यादि प्रश्नों का जवाब किसी न किसी रूप में भिन्न-भिन्न जैन-आगम-भागों में सुरक्षित है। परन्तु वह जवाब ऐतिहासिक जीवनी का आधार तभी बन सकता है जबकि उसकी सच्चाई और प्राचीनता बाहरी सबूतों से भी साबित हो। इस बारे में बौद्ध-पिटक के पुराने अंश सीधे तौर से बहुत मदद करते हैं क्योंकि जैसा जैनागमों में पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का वर्णन है[3] ठीक वैसा ही चातुर्याम निर्ग्रन्थ धर्म का निर्देश बौद्ध पिटकों में भी है[4]। इस बौद्ध उल्लेख

---

१. सन्मतिटीका पृ० ६९७; न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७६७ इत्यादि।
२. उत्तराध्ययन अ० २५ गाथा ३३।
३. उत्तराध्ययन अ० २३; भगवती श० २. उ० ५, इत्यादि।
४. दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त।

से महावीर के पञ्चयाम धर्म के सुधार की जैन शास्त्र में वर्णित घटना की ऐतिहासिकता साबित हो जाती है। महावीर खुद नग्न-अचेल थे फिर भी परिमित व जीर्ण वस्त्र रखनेवाले साधुओं को अपने संघ में स्थान देते थे ऐसा जो वर्णन आचारांग-उत्तराध्ययन में है उसकी ऐतिहासिकता भी बौद्ध ग्रन्थों से साबित हो जाती है क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों में अचेल और एकसाटकधर[1] श्रमणों का जो वर्णन है वह महावीर के अचेल और सचेल साधुओं को लागू होता है। जैन आगमों में महावीर का कुल ज्ञात कहा गया है, बौद्ध पिटकों में भी उनका वही कुल[2] निर्दिष्ट है। महावीर के नाम के साथ निर्ग्रन्थ विशेषण बौद्ध ग्रन्थों के आता है जो जैन-वर्णन की सच्चाई को साबित करता है। श्रेणिक-कोणिकादि राजे महावीर को मानते थे या उनका आदर करते थे ऐसा जैनागमों में जो वर्णन है वह बौद्ध पिटकों के वर्णन से भी खरा उतरता है। महावीर के व्यक्तित्व का सूचक दीर्घतपस्या का वर्णन जैनागमों में है उसकी ऐतिहासिकता बौद्ध ग्रन्थों से साबित होती है क्योंकि भगवान् महावीर के शिष्यों का दीर्घतपस्वी रूप से निर्देश उनमें आता है[3]। जैनागमों में महावीर के विहारक्षेत्र का जो आभास मिलता है वह बौद्ध पिटकों के साथ मिलान करने से खरा ही उतरता है। जैनागमों में महावीर के बड़े प्रतिस्पर्द्धी गोशालक का जो वर्णन है वह भी बौद्ध पिटकों के संवाद से सच्चा ही साबित होता है। इस तरह महावीर के जीवनी के महत्त्व के अंशों को ऐतिहासिक बतलाने के लिए लेखक को बौद्ध पिटकों का सहारा लेना ही होगा।

---

१. अंगुत्तर भाग, १.१५१। भाग. २, १९८। सुमङ्गलाविलासिनी पृ० १४४

२. दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त इत्यादि इत्यादि।

३. जैसी तपस्या स्वयं उन्होंने की वैसी ही तपस्या का उपदेश उन्होंने अपने शिष्यों को दिया था। अतएव उनके शिष्यों को बौद्ध ग्रंथ में जो दीर्घ तपस्वी विशेषण दिया गया है उससे भगवान् भी दीर्घतपस्वी थे ऐसा सूचित होता है।
—देखो मज्झिमनिकाय-उपालिसुत्त ५६।

बुद्ध और महावीर समकालीन और समान क्षेत्रविहारी तो थे ही पर ऐतिहासिकों के सामने एक सवाल यह पड़ा है कि दोनों में पहिले किसका निर्वाण हुआ ? प्रोफेसर याकोबी ने बौद्ध और जैन ग्रन्थों की ऐतिहासिक दृष्टि से तुलना करके अंतिम निष्कर्ष निकाला है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध-निर्वाण के पीछे ही अमुक समय के बाद ही हुआ है[1]। याकोबी ने अपनी गहरी छानबीन से यह स्पष्ट कर दिया है कि वज्जि-लिच्छिवियों का कुणिक के साथ जो युद्ध हुआ था वह बुद्ध-निर्वाण के बाद और महावीर के जीवनकाल में ही हुआ। वज्जि-लिच्छिवीगण का वर्णन तो बौद्ध और जैन ग्रन्थों में आता है पर इनके युद्ध का वर्णन बौद्धग्रन्थों में नहीं आता है जब कि जैनग्रन्थों में आता है। याकोबी का यह ऐतिहासिक निष्कर्ष महावीर की जीवनी लिखने में जैसा-तैसा उपयोगी नहीं है। इससे ऐतिहासिक लेखक का ध्यान इस तत्त्व की ओर भी अपने आप जाता है कि भगवान् की जीवनी लिखने में आगमवर्णित छोटी बड़ी सब घटनाओं की बड़ी सावधानी से जाँच करके उनका उपयोग करना चाहिए।

महावीर की जीवनी का निरूपण करने वाले कल्पसूत्र आदि अनेक दूसरे भी ग्रन्थ हैं जिन्हें श्रद्धालु लोग अक्षरशः सच्चा मान कर सुनते आये हैं पर इनकी भी ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन करने पर मालूम हो जाता है कि उनमें कई बातें पीछे से औरों की देखा-देखी लोकरुचि की पुष्टि के लिए जोड़ी गई हैं। बौद्ध महायान परंपरा के महावस्तु, ललितविस्तर जैसे ग्रन्थों के साथ कल्पसूत्र की तुलना के बिना किये ऐतिहासिक लेखक अपना काम ठीक तौर से कर नहीं सकता। वह जब ऐसी तुलना करता है तब उसे मालूम पड़ जाता है कि भगवान् की जीवनी में आनेवाले चौदह स्वप्नों का वर्णन तथा जन्मकाल में और कुमारावस्था में अनेक देवों के गमनागमन का वर्णन क्यों और कैसे काल्पनिक तथा पौराणिक है।

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्मस्थान तो वाराणसी था, पर उनका भ्रमण और उपदेश-क्षेत्र दूर-दूर तक विस्तीर्ण था। इसी क्षेत्र में

---

१. 'भारतीय विद्या' सिंघी स्मारक अंक पृ० १७७।

वैशाली नामक सुप्रसिद्ध शहर भी आता है जहाँ भगवान् महावीर जन्मे। जन्म से निर्वाण तक में भगवान् की पादचर्या से अनेक छोटे बड़े शहर, कसबे गाँव, नदी, नाले, पर्वत, उपवन आदि पवित्र हुए, जिनमें से अनेक के नाम व वर्णन आगमिक साहित्य में सुरक्षित हैं। अगर ऐतिहासिक जीवनी लिखनी हो तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम उन सभी स्थानों का आँखों से निरीक्षण करें। महावीर के बाद ऐसे कोई असाधारण और मौलिक परिवर्तन हुए नहीं हैं जिनसे उन सब स्थानों का नामोनिशान मिट गया हो। ढाई हजार वर्षों के परिवर्तनों के बावजूद भी अनेक शहर, गाँव, नदी, नाले, पर्वत आदि आज तक उन्हीं नामों से या थोड़े बहुत अपभ्रष्ट नामों से पुकारे जाते हैं जब हम महावीर की जीवनचर्या में आने वाले उन स्थानों का प्रत्यक्ष निरीक्षण करेंगे तब हमें आगमिक वर्णनों की सच्चाई के तारतम्य की भी एक बहुमूल्य कसौटी मिल जायगी, जिससे हम न केवल ऐतिहासिक जीवन को ही तादृश चित्रित कर सकेंगे बल्कि अनेक उलझी गुत्थियों को भी सुलझा सकेंगे। इसलिए मेरी राय में ऐतिहासिक लेखक के लिए कमसे कम भौगोलिक भाग का प्रत्यक्ष्य परिचय घूम-घूम कर करना जरूरी है।

ऐतिहासिक जीवनी लिखने का तीसरा महत्त्वपूर्ण साधन परम्परागत आचार-विचार है। भारत की जनता पर खास कर जैनधर्म के प्रचारवाले भागों की जनता पर महावीर के जीवन का सूक्ष्म-सूक्ष्मतर प्रभाव देखा जा सकता है, पर उसकी अमिट और स्पष्ट छाप तो जैन-परम्परा के अनुयायी गृहस्थ और त्यागी के आचार-विचारों में देखी जा सकती है। समय के हेरफेर से, बाहरी प्रभावों से और अधिकार-भेद से आज के जैन-समाज का आचार-विचार कितना ही क्यों न बदला हो; पर यह अपने उपास्य देव महावीर के आचार-विचार के वास्तविक रूप की आज भी झाँकी करा सकता है। अलबत्ता इसमें छानबीन करने की शक्ति आवश्यक है। इस तरह हम ऊपर सूचित किये हुए तीनों साधनों का गहराई के साथ अध्ययन करके महावीर की एतिहासिक जीवनी तैयार कर सकते हैं, जो समय की माँग है।

ई० १९४७]

भ० महावीर की मंगल विरासत

आज का दिन सांवत्सरिक पर्व का है। यह जैनों की दृष्टि से अधिक पवित्र है। सब दिन की अपेक्षा आज का प्रभाव अधिक मंगल है और उसकी अपेक्षा भी जिस क्षण में हम लोग यहाँ एकत्र हुए हैं वह अधिक मांगलिक है। क्योंकि अन्य प्रसंग में सगे सम्बन्धी मित्र आदि मिलते हैं, किन्तु आज तो हम ऐसे लोग एकत्र मिले हैं जो प्रायः एक दूसरे को पहचानते तक नहीं। इसके पीछे भावना यह है कि हम सब भेद और गुटबन्दी को भूलकर किसी माँगलिक वस्तु को, जीवनस्पर्शी वस्तु को सुनें और उस पर विचार करें।

सामान्यतः हमें जो विरासत मिलती है वह तीन प्रकार की होती है। माता पिता आदि से शरीरसम्बद्धरूप, आकृति आदि गुण धर्म की विरासत यह प्रथम प्रकार है और माता पिता या अन्य से जन्म से पहले या बाद जो संपत्ति विरासत में मिलती है वह दूसरा प्रकार है। पहले और दूसरे प्रकार के बीच बड़ा भेद है, क्योंकि शारीरिक विरासत संतति के लिए अवश्यंभावी है जब कि संपत्ति के विषय में ऐसा नहीं है। प्रायः ऐसा होता है कि माता पिता ने संतति को कुछ भी संपत्ति विरासत में न दी हो फिर भी संतति नया उपार्जन करती है और ऐसा भी होता है कि बड़ों से प्राप्त

संपत्ति को संतति बिलकुल फना कर देती । संस्कार यह माता-पिता से भी मिलते हैं, शिक्षक और मित्रों से भी मिलते हैं तथा जिस समाज में संवर्धन हो उसमें से भी मिलते हैं। संस्कार की यह तीसरी विरासत एक ही प्रकार की नहीं होती। भाषाकीय और दूसरे अनेक प्रकार के संस्कार प्राप्त होते हैं। जीवन जीने के लिए, उसे विकसित और समृद्ध बनाने के लिए उक्त तीनों प्रकार की विरासतें आवश्यक हैं यह सच है। किन्तु उन तीनों प्रकार की विरासतों में जीवन को प्रेरणा देनेवाली, उसमें संजीवनी का प्रवेश करानेवाली विरासत यह तो अनोखी ही है। यही कारण है कि वह विरासत मंगलरूप है। यदि यह मांगलिक विरासत न मिले तो उक्त तीनों विरासत के बल पर हम साधारण जीवन तो बिता सकते हैं किन्तु उनके सहारे हमारा जीवन उच्च और धन्य नहीं हो सकता। वही इस चतुर्थ विरासत की विशेषता है। जो मांगलिक विरासत भगवान् महावीर से हमने पाई है वैसी विरासत माता-पिता, बड़ों, या सामान्य समाज में से प्राप्त होने का नियम नहीं। फिर भी वह किसी अनोखे प्रवाह में से मिलती तो है ही।

शारीरिक, सांपत्तिक और सांस्कारिक ये तीनों विरासतें स्थूल इन्द्रियगम्य हैं, जब कि चौथे प्रकार की विरासत के बारे में ऐसा नहीं है। जिस मनुष्य को प्रज्ञेन्द्रिय प्राप्त हो, जिसका संवेदन सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हो वही इस विरासत को समझ या ग्रहण कर सकता है। दूसरी विरासतें जीवन रहते ही या मृत्यु के समय नष्ट हो जाती हैं जब कि वह मांगलिक विरासत कभी नष्ट नहीं होती। एक बार यदि यह विरासत चैतन्य में प्रविष्ट हो गई तो वह जन्मजन्मान्तर चलती है, उसका उत्तरोत्तर विकास होता है वह अनेक व्यक्तियों को संप्लावित भी करेगी ही।

हम लोगों ने ऐसी आर्यपरंपरा में जन्म प्राप्त किया है कि जन्मते ही ऐसी मांगलिक विरासत के आन्दोलन जाने न जाने हमें स्पर्श करते हैं। यह हो सकता है कि हम उसे ग्रहण न कर सकें, यथार्थ रूप में जान भी न सकें, किन्तु इस मांगलिक विरासत के आन्दोलन आर्यभूमि में बहुत ही सहज हैं।

श्री अरविन्द, सर राधाकृष्णन् आदि भारत-भूमि को आध्या-

त्मिक भूमि कहते हैं बस इसी अर्थ में।

भगवान् महावीर ने जिस मांगलिक विरासत को हमें दिया है या सौंपा है वह कौन सी है यही आज विचारणीय है। एक बात स्पष्ट समझ ली जानी चाहिए कि सिद्धार्थनन्दन या त्रिशलापुत्र स्थूल देहधारी महावीर के विषय में हम मुख्यरूप से यहाँ विचार नहीं करते। उनका ऐतिहासिक या ग्रन्थ-बद्ध स्थूल जीवन तो हमेशा हम पढ़ते सुनते आये हैं। आज जिस महावीर का मैं निर्देश करता हूं वह शुद्ध बुद्ध वासनामुक्त चेतनस्वरूप महान् वीर को मन में रख कर उसका निर्देश करता हूं। ऐसे महावीर में सिद्धार्थनन्दन का तो समावेश हो ही जाता है। इसके अलावा वैसे सभी शुद्ध बुद्ध चेतन का भी समावेश हो जाता है। इस महावीर में किसी जात-पाँत का या देशकाल का भेद नहीं है। वे वीतरागाद्वैतरूप से एक ही हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर ही अनेक स्तुतिकारों ने स्तुति की है। जब मानतुङ्ग आचार्य स्तुत्य तत्त्व को बुद्ध कहते हैं, शंकर कहते हैं, विधाता कहते हैं और पुरुषोत्तम कहते हैं, तब वे सद्गुणाद्वैत की भूमिका का ही स्पर्श करते हैं। आनन्दघन 'राम, रहिमान, कान' आदि सम्प्रदायों में प्रचलित शब्दों का प्रयोग करके ऐसे ही किसी परमतत्त्व का स्तवन करते हैं। आज हम इसी प्रकार से वीर को समझने की कोशिश करें।

भगवान् महावीर ने जिस विरासत को हमें दिया है उसे उन्होंने अपने विचार में ही संगृहीत नहीं रखा था किन्तु उन्होंने उसे अपने जीवन में उतार कर परिपक्व करने के बाद ही हमारे समक्ष रखा है। अतएव वह विरासत उपदेश में नहीं समा जाती, उसका तो आचरण भी करना चाहिए।

भगवान् महावीर की विरासत को संक्षेप में चार भागों में बताया जा सकता है—(१) जीवनदृष्टि, (२) जीवनशुद्धि, (३) जीवनव्यवहार का परिवर्तन और (४) पुरुषार्थ।

भगवान् की जीवन विषयक दृष्टि क्या थी यही प्रथम समझने का यत्न करें। जीवनदृष्टि अर्थात् जीवन का मूल्य परखने की दृष्टि। हम सभी अपने-अपने जीवन का मूल्य आँकते हैं। अधिक हुआ तो जिस कुटुम्ब, जिस ग्राम, जिस समाज या जिस राष्ट्र के साथ

अपना सम्बन्ध होता है उसके जीवन का मूल्य करते हैं। इससे आगे बढ़कर समस्त मानव-समाज और उससे भी आगे बढ़कर हमारे सम्बद्ध पशु-पक्षी के भी जीवन का मूल्य आँकते हैं। किन्तु महावीर की स्वसंवेदनदृष्टि उससे भी आगे बढ़ गई थी। काका साहब ने महावीर की जीवनदृष्टि का उल्लेख करते हुए कहा था कि वे एक ऐसे धैर्यसम्पन्न और सूक्ष्म-प्रज्ञ थे कि उन्होंने कीट-पतङ्ग तो क्या जल और वनस्पति जैसी जीवनशून्य मानी जानेवाली भौतिक वस्तुओं में भी जीवनतत्व देखा था। महावीर ने जब अपनी जीवनदृष्टि लोगों के समक्ष रखी तब उसे कौन ग्रहण कर सकेंगे इसका विचार नहीं किया किन्तु इतना ही सोचा कि काल निरवधि है और पृथ्वी विशाल है, कभी न कभी तो कोई उसे समझेगा ही। जिसे गहनतम स्पष्ट प्रतीति होती है वह अधीर होकर ऐसा नहीं सोचता कि मेरी प्रतीति को तत्काल ही लोग क्यों नहीं समझ जाते ?

महावीर ने आचारांग नामक अपने प्राचीन उपदेशग्रन्थ में बहुत सरल ढंग से अपनी बात उपस्थित की है और कहा है कि प्रत्येक को जीवन प्रिय है, जैसा कि स्वयं हमें। भगवान् की सरल सर्वग्राह्य दलील इतनी ही है कि मैं आनन्द और सुख चाहता हूं इसी से मैं स्वयं हूं। तो फिर इसी न्याय से आनन्द और सुख को चाहने वाले दूसरे भी प्राणी होते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसा कैसे कहा जाय कि मनुष्य में ही आत्मा है, पशु-पक्षी में ही आत्मा है और दूसरे में नहीं है ? कीट और पतंग अपने ढंग से सुख की शोध करते नजर आते हैं किन्तु सूक्ष्मतम वानस्पतिक जीवसृष्टि में भी संतति और पोषण की प्रक्रिया अगम्य रूप से चलती ही रहती है। भगवान् की यह दलील थी और इसके आधार पर उन्होंने समस्त विश्व में अपने समान ही चेतनतत्व को उल्लसित देखा। उसे धारण करने वाले, शरीर और इन्द्रियों के आकार-प्रकार में कितना ही अन्तर क्यों न हो, कार्यशक्ति में भी अन्तर हो फिर भी तात्त्विक रूप से सर्वव्यापी चेतन तत्त्व एक ही प्रकार का विलसित हो रहा है। भगवान् की इस जीवनदृष्टि को हम आत्मौपम्य दृष्टि कह सकते हैं। हम सब जैसे तात्त्विक रूप से हैं वैसे ही छोटे-बड़े सभी प्राणी भी। जो अन्य प्राणीरूप में हैं वे भी कभी न कभी विकासक्रम में मानवभूमिका को

स्पर्श करते हैं और मानवभूमिका को प्राप्त जीव भी कभी अवक्रान्तिक्रम में अन्य प्राणी का स्वरूप प्राप्त करते हैं। ऐसी उत्क्रान्ति और अवक्रान्ति का चक्र चलता ही रहता है। किन्तु उससे मूल चैतन्य के स्वरूप में कुछ भेद नहीं होता। जो भेद होता होता भी है वह व्यावहारिक है।

भगवान् की आत्मौपम्य की दृष्टि में जीवनशुद्धि का प्रश्न आ ही जाता है। अज्ञात काल से चेतन का प्रकाश कितना भी आवृत क्यों न हुआ हो,उसका आविर्भाव कम या ज्यादा हो फिर भी उसकी शक्ति पूर्ण विकास—पूर्ण शुद्धि ही है। यदि जीवनतत्व में पूर्णशुद्धि की शक्यता न हो तो आध्यात्मिक साधन का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। जिस किसी देश में सच्चे अध्यात्मिक अनुभवी हुए हैं उन सब की प्रतीति एक जैसी ही है कि चेतन तत्व वस्तुतः शुद्ध है। वासना और लेप से पृथक् है। शुद्ध चैतन्य के ऊपर जो वासना या कर्म की छाया पड़ती है वह उसका मूल स्वरूप नहीं है।मूलस्वरूप तो उससे भिन्न ही है। यह जीवनशुद्धि का सिद्धान्त हुआ, जिसे हमने आत्मौपम्य की दृष्टि कहा और जिसे जीवनशुद्धिकी दृष्टि कहा उसमें वेदान्तियों का ब्रह्माद्वैतवाद या बौद्धों का विज्ञानाद्वैतवाद या वैसे ही दूसरे केवलाद्वैत शुद्धाद्वैत जैसे वाद समाविष्ट हो जाते हैं, भले ही सांप्रदायिक परिभाषा के अनुसार उनका भिन्न-भिन्न अर्थ होता हो।

यदि तत्वतः जीव का स्वरूप शुद्ध ही है तो फिर हमें उस स्वरूप को पुष्ट करने और प्राप्त करने के लिए क्या करना यह साधनाविषयक प्रश्न उपस्थित होता है। भगवान् महावीर ने उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि जब तक जीवनव्यवहार में परिवर्तन नहीं होता, आत्मौपम्य की दृष्टि और आत्मशुद्धि की सिद्धि हो ऐसा जीवनव्यवहार में परिवर्तन न हो तब तक उक्त दोनों बातों का अनुभव हो नहीं सकता। जीवनव्यवहार के परिवर्तन को जैनपरिभाषा में चरण-करण कहते हैं। व्यवहारभाषा में उसका यही अर्थ है कि बिलकुल सरल, सादा और निष्कपट जीवन बिताना। व्यावहारिक जीवन यह आत्मौपम्य की दृष्टि विकसित करने का और आत्मशुद्धि सिद्ध करने का एक साधन है। यह नहीं

कि उक्त दृष्टि और शुद्धि के ऊपर अधिक आवरण—मायिक जाल बढ़ाने का। जीवनव्यवहार के परिवर्तन के विषय में एक ही मुख्य बात समझने की है और वह यह कि प्राप्त स्थूल साधनों का इस प्रकार का उपयोग न करना कि जिससे हम अपनी आत्मा को ही खो बैठें।

किन्तु उक्त सभी बातें सच होने पर भी यह विचारने का रहता ही है कि यह सब कैसे हो? जिस समाज, जिस लोकप्रवाह में हम रहते हैं उसमें तो ऐसा कुछ भी घटित होता हो ऐसा नजर नहीं आता। क्या ईश्वर या ऐसी कोई दैवी शक्ति नहीं है जो हमारा हाथ पकड़ ले और लोकप्रवाह से विपरीत दिशा में हमें ले चले, ऊर्ध्वगति दे? इसका उत्तर महावीर ने स्वानुभव से दिया है और वह यह कि इसके लिए पुरुषार्थ ही आवश्यक है। जब तक कोई भी साधक स्वयं पुरुषार्थ न करे, वासनाओं के प्रतिकूल आचरण न करे, उसके आघात-प्रत्याघात से क्षोभ का अनुभव बिना किये अडिगरूप से उसके सामने युद्ध करने का पराक्रम न दिखावे तब तक उपर्युक्त एक भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। इसीसे उन्होंने कहा है कि 'संजमम्मि य वीरियं' अर्थात् संयम, चरित्र, सरल जीवनव्यवहार इन सबके लिए पराक्रम करना चाहिए। वस्तुतः महावीर यह नाम नहीं है, विशेषण है। जो ऐसा वीर्य-पराक्रम दिखाते हैं वे सभी महावीर हैं। इसमें सिद्धार्थनन्दन तो आ ही जाते हैं और इनके अलावा अन्य सभी वैसे अध्यात्मपराक्रमी भी आ जाते हैं।

जो बात महावीर ने प्राकृत भाषा में कही है वही बात दूसरी परिभाषा में तनिक दूसरी तरह से उपनिषदों में भी है। जब ईशावस्य मंत्र के प्रणेता ऋषि कहते हैं कि समस्त विश्व में जो कुछ दृश्य है वह सब ईश से व्याप्त है तब वह यही बात दूसरे ढंग से करते हैं। लोग ईश शब्द से यदि ईश्वर समझते हैं तो उसमें कुछ बुरा नहीं है। क्योंकि जो चेतनतत्व समस्त विश्व में व्याप्त है वह शुद्ध होने से ईश ही है, समर्थ ही है। यहाँ ईश्वर-अनीश्वरवाद या द्वैताद्वैतवाद की तार्किक मीमांसा नहीं है। यहाँ तो चेतन तत्व की व्याप्ति की बात है वह ऋषि कहते हैं कि यदि समस्त विश्व में

चेतनतत्व हो तो साधक का धर्म यह है कि वह त्याग करके ही भोग करे। मैं तो यह कहता हूं कि वैसा साधक त्याग करने के बाद ही भोग के सुख का आनन्द प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसे तो त्याग में ही भोग का सुख मिलता है। वैसे साधक के लिए त्याग से भिन्न कोई भोग नहीं होता। दुनियावी व्यवहार में माता जब संतुति के लिए त्याग करती है, तब वह उसी में उपभोग का परम सुख प्राप्त करती है। जबकि यहाँ तो अध्यात्म साधक की बात हो रही है। वह ऋषि अन्तमें सभी साधकों को एक बात की चेतावनी देता है कि उसे किसी भी वस्तु में वृद्धि अर्थात लोभ या ममता का सेवन न करना चाहिए। किन्तु वह मात्र जीवन-व्यवहार का विचार करे। हम निःशंकरूप से देख सकते हैं कि जो मांगलिक विरासत भगवान् महावीर के उपदेश से प्राप्त होती है वही उपनिषदों में से भी प्राप्त होती है और बुद्ध या वैसे अन्य महान् वीरों ने इसके अलावा और क्या कहा है ?

इसी अर्थ में मैं उपनिषद् के कर्ता द्वारा प्रयुक्त भूमा शब्द का प्रयोग करके यदि कहूं कि महावीर अर्थात् भूमा और वही ब्रह्म है तो इससे तनिक भी असंगति नहीं है। महावीर भूमा थे, महान् थे इसीलिए वे सुखरूप थे, इसीलिए वे अमृत थे। कभी उन्हें दुःख का स्पर्श हो नहीं सकता और कभी उनकी मृत्युसम्भव नहीं।दुख या मृत्यु यह तो अल्प का होता है,संकुचित दृष्टि का होता है, पामर का होता है, वासना-बद्धका होता है, जिसका सम्बन्ध केवल स्थूल और सूक्ष्म शरीर के साथ ही संभव है। जिन महावीर के विषय में मैं कहता हूं वे तो उन दोनों शरीर से परे होने के कारण भूमा हैं, अल्प नहीं हैं।

इतिहासकार जिस रीति से विचार करते हैं उस रीति से विचार करने पर यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि महावीर ने जिस मंगल विरासत को दूसरों को दिया है वह स्वयं उन्हें कहाँ से किस प्रकार प्राप्त हुई थी ? इसका उत्तर सरल है। शास्त्र और व्यवहार में कहा जाता है कि बिन्दु में सिन्धु समा जाता है। सुनने पर तो यह विपरीत वचन प्रतीत होता है। किन्तु यह सच बात है। महावीर के स्थूल जीवन का परिमित काल यह तो भूतकाल के महान् समुद्र का एक बिन्दुमात्र है। भूतकाल तो भूत है। सत् रूप

से वह विद्यमान नहीं रहता। हमारी कल्पना में भी न आवे इस प्रकार की तीव्र गति से वह आता और चला जाता है। किन्तु उसमें संचित होनेवाले संस्कार नये-नये वर्तमान के बिन्दु में समाविष्ट होते जाते हैं। भगवान् महावीर ने अपने जीवन में जिस आध्यात्मिक विरासत को प्राप्त किया और सिद्ध किया वह उनके पुरुषार्थ का परिणाम है यह सच है, किन्तु इसके पीछे अज्ञात भूतकालीन वैसी विरासत की सतत परंपरा विद्यमान है। कोई उसे ऋषभ या नेमिनाथ या पार्श्वनाथ आदि से प्राप्त होने का बता सकते हैं किन्तु मैं इसे एक अर्ध सत्य के रूप में ही स्वीकार करता हूं। भगवान् महावीर से पहले मानवजाति ने ऐसे जिन महापुरुषों की सृष्टि की थी, वे जिस किसी नाम से प्रसिद्ध हुए हों, अथवा अज्ञात रहे हों, किन्तु उन समग्र आध्यात्मिक पुरुषों की साधना की संपत्ति मानवजाति में इस प्रकार से उत्तरोत्तर संक्रान्त होती जाती थी कि उसके लिए यह कहना कि यह सब संपति किसी एक ने सिद्ध की है तो यह सिर्फ एकमात्र भक्ति है। भगवान् महावीर ने ऐसे ही आध्यात्मिक कालस्रोत में से उपरिसूचित मांगलिक विरासत को प्राप्त किया है और अपने पुरुषार्थ के बल से उसे जीवन्त—सजीव बना कर, विशेषरूप से विकसित करके, देश और कालानुसार उसको समृद्ध बनाकर हमारे समक्ष उपस्थित किया है। मैं नहीं जानता कि उनके बाद होनेवाले उत्तरकालीन कितने वेशधारी संतों ने उस मांगलिक विरासत में से कितना प्राप्त किया और विकसित किया, किन्तु यह तो कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उस बिन्दु में भूतकालीन महान् समुद्र समाविष्ट है उसी प्रकार भविष्य का अनन्त समुद्र भी उसी बिन्दु में समाविष्ट है। अतएव भविष्य की धारा उस बिन्दु द्वारा अवश्य आगे बढ़ेगी।

जब उपनिषदों में 'तत्वमसि' ऐसा कहा गया तब उसका अर्थ अन्य प्रकार से यह है कि तुम अर्थात् जीवदशा प्राप्त स्वयं ही वही शुद्ध परमात्मस्वरूप हो हो। यह भी शक्ति और योग्यता की दृष्टि से बिन्दु में सिन्धु के समावेश का एक दृष्टान्त ही है।

ऊपर सूचित चतुर्थ प्रकार की विरासत को ध्यान में रखकर ही बौद्ध मङ्गलसूत्र में कहा गया है कि 'एतं मङ्गलमुत्तमं' यह एक

उत्तम मङ्गल है। इसी को आदि, मध्य और अन्तिम मङ्गल कहा गया है। जैनसूत्र के 'चत्तारि मङ्गलं' पाठ में जो चौथा मङ्गल (धर्म) कहा गया है वह यही वस्तु है।

अपने जीवनकाल में हमने देखा है कि गांधी जी ने उक्त विरासत में से कितना पाया और उसे किस प्रकार विकसित किया। आज के पवित्र क्षण में हम ऐसी ही किसी मांगलिक भावना को लेकर घर जायें कि हम भी ऐसी मांगलिक विरासत के पात्र कब बनें।

ई० १९५०] [अनु०—दलसुख मालवणिया

भगवान् पार्श्वनाथ की विरासत

[एक ऐतिहासिक अध्ययन]

वर्तमान जैनपरंपरा भगवान् महावीर की विरासत है। उनके आचार-विचार की छाप इसमें अनेक रूप से प्रकट होती है, इस बारे में तो किसी ऐतिहासिक को सन्देह था ही नहीं। पर महावीर की आचार-विचार की परम्परा उनकी निजी निर्मित है—जैसे कि बौद्धपरंपरा तथागत बुद्ध की निजी निर्मित है—या वह पूर्ववर्ती किसी तपस्वी को परंपरागत विरासत है ? इस विषय में पाश्चात्य ऐतिहासिक बुद्धि चुप न थी। जैन परंपरा के लिए श्रद्धा के कारण जो बात असन्दिग्ध थी उसी के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि से एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले तटस्थ पाश्चात्य विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया कि, पार्श्वनाथ आदि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के अस्तित्व में क्या कोई ऐतिहासिक प्रमाण है ? इस प्रश्न का माकूल जवाब तो देना चाहिए था जैन विद्वानों को, पर वे वैसा कर न सके। आखिर डा० याकोबी जैसे पाश्चात्य ऐतिहासिक ही आगे आये और उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन करके अकाट्य प्रमाणों के आधार पर बतलाया कि, कम से कम पार्श्वनाथ तो ऐतिहासिक हैं ही[1]। इस विषय में याकोबी महाशय ने जो प्रमाण

१. डा० याकोबी : "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable."

—Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction, pp. XXI—XXXIII

बतलाये उनमें जैन आगमों के अतिरिक्त बौद्ध पिटक का भी समावेश होता है। बौद्ध पिटकगत उल्लेखों से जैन आगमगत वर्णनों का मेल बिठाया गया तब ऐतिहासिकों की प्रतीति दृढ़तर हुई कि, महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ हुए हैं। जैन आगमों में पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती बाईस तीर्थंकरों का वर्णन आता है। पर उसका बहुत बड़ा हिस्सा मात्र पौराणिक है। उसमें ऐतिहासिक प्रमाणों की कोई गति अभी तो नहीं दिखती।

याकोबी द्वारा पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता स्थापित होते ही विचारक और गवेषक को उपलब्ध जैन आगम अनेक बातों के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व के जान पड़े और वैसे लोग इस दृष्टि से भी आगमों का अध्ययन-विवेचन करने लगे। फलतः भारतीय कतिपय विचारकों ने और विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों ने उपलब्ध जैन आगम के आधार पर अनेक विध ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी की और उसका यत्र-तत्र प्रकाशन भी होने लगा। अब तो धीरे-धीरे रूढ़ और श्रद्धालु जैन वर्ग का भी ध्यान ऐतिहासिक दृष्टि से श्रुत का अध्ययन करने की ओर जाने लगा है। यह एक सन्तोष की बात है।

प्रस्तुत लेख में उसी ऐतिहासिक दृष्टि का आश्रय लेकर विचार करना है कि, भगवान् महावीर को जो आचार-विचार की आध्यात्मिक विरासत मिली वह किस-किस रूप में मिली और किस परंपरा से मिली? इस प्रश्न का संक्षेप में निश्चित उत्तर देने के बाद उसका क्रमशः स्पष्टीकरण किया जायगा। उत्तर यह है कि, महावीर को जो अध्यात्मिक विरासत मिली है वह पार्श्वनाथ की परंपरागत देन है। वह विरासत मुख्यतया तीन प्रकार की है—(१) संघ, (२) आचार और (३) श्रुत।

यद्यपि उपलब्ध आगमों में कई आगम ऐसे हैं कि जिनमें किसी न किसी रूप में पार्श्वनाथ या उनकी परंपरा का सूचन हुआ है परन्तु इस लेख में मुख्यतया पाँच[1] आगम जो कि इस विषय में

१. आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती और उत्तराध्ययन।

अधिक महत्व रखते हैं और जिनमें अनेक पुरानी बातें किसी न किसी प्रकार से यथार्थ रूप में सुरक्षित रह गई हैं, उनका उपयोग किया जायगा। साथ ही बौद्ध पिटक में पाये जानेवाले संवादी उल्लेखों का तथा नई खोज करनेवालों द्वारा उपस्थित की गई सामग्री में से उपयोगी अंश का भी उपयोग किया जायगा।

दिगंबर-श्वेतांबर दोनों के ग्रंथों में वर्णित है कि, पार्श्वनाथ का जन्म काशी—बनारस में हुआ और उनका निर्वाण सम्मेतशिखर वर्तमान पार्श्वनाथ पहाड़—पर हुआ। दोनों के चरित्रविषयक साहित्य से इतना तो निर्विवाद मालूम होता है कि, पार्श्वनाथ का धर्मप्रचार-क्षेत्र पूर्व भारत—खासकर गंगा के उत्तर और दक्षिण भाग में रहा। खुद पार्श्वनाथ की विहार भूमि की सीमा का निश्चित निर्देश करना अभी संभव नहीं, परन्तु उनकी शिष्यपरंपरा, जो पार्श्वापत्यिक कहलाती है, उसके विहार क्षेत्र की सीमा जैन और बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर, अस्पष्ट रूप में भी निर्दिष्ट की जा सकती है। अंगुत्तरनिकाय नामक बौद्ध ग्रन्थ में बतलाया है कि, वप्प नाम का शाक्य निर्ग्रन्थ श्रावक था।[1] इसी मूल सुत्त की अट्ठकथा में वप्प को गौतम बुद्ध का चाचा कहा है। वप्प बुद्ध का समकालीन कपिलवस्तु का निवासी एक शाक्य था। कपिलवस्तु नेपाल की तराई में है। नीचे की ओर राव नदी—जो बौद्ध ग्रन्थों में अचिरावती नाम से प्रसिद्ध है, जो इरावती भी कहलाती है— उसके तट पर श्रावस्ती नामक प्रसिद्ध शहर था, जो आजकल सहेटमहेट[2] कहलाता है। श्रावस्ती में पार्श्वनाथ की परंपरा का एक निर्ग्रन्थ केशी था, जो महावीर के मुख्य शिष्य गौतम से मिला था।[3] उसी केशी ने पएसी नामक राजा को और उसके

१. एक समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मिं। अथ खो वप्पो सक्को निगण्ठसावगो इ० ॥

—अंगुत्तर निकाय, चतुष्कनिपात, वग्ग ५।

TheDictionary of Pali Proper Names. Vol II, P. 832.

२. श्री नन्दलाल डे : The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, p. 189.

३. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २३।

सारथी को धर्म प्राप्त कराया था[1]। जैन आगमगत सेयविया[2] ही बौद्ध पिटकों की सेतव्या जान पड़ती है, जो श्रावस्ती से दूर नहीं। वैशाली, जो मुजफ्फरपुर जिले का आजकल का बसाढ[3] है और क्षत्रियकुण्ड जो वासुकुण्ड[4] कहलाता है तथा वाणिज्यग्राम[5] जो बनिया कहलाता है, उसमें भी पार्श्वापत्यिक मौजूद थे, जबकि महावीर का जीवनकाल आता है। महावीर के माता-पिता भी पार्श्वापत्यिक कहे गये हैं[6]। उनके नाना चेटक तथा बड़े भाई नन्दिवर्धन आदि पार्श्वापत्यिक रहे हों तो आश्चर्य नहीं। गंगा के दक्षिण राजगृही था, जो आजकल का राजगिर है। उसमें जब महावीर धर्मोपदेश करते हुए आते हैं तब तुंगियानिवासी पार्श्वापत्यिक थेरों के बीच हुई धर्म चर्चा की बात गौतम द्वारा सुनते हैं[7]। तुंगिया राजगृह के नजदीक में ही कोई नगर होना चाहिये, जिसकी पहचान आचार्य विजयकल्याणसूरि आधुनिक तुंगी ग्राम से कराते हैं[8]।

बचे-खुचे ऊपर के अति अल्प वर्णनों से भी इतना तो निष्कर्ष हम निर्विवाद् रूप से निकाल सकते हैं कि महावीर के भ्रमण और धर्मोपदेश के वर्णन में पाये जाने वाले गंगा के उत्तर दक्षिण के कई गाँव—नगर पार्श्वनाथ की परम्परा के निग्रंथों के भी विहारक्षेत्र एवं प्रचार-क्षेत्र रहे। इसी से हम जैन आगमों में यत्र-तत्र यह भी पाते हैं कि, राजगृही आदि में महावीरकी पार्श्वापत्यिकोंसे भेंट हुई।

---

१. रायपसेणइय (पं० श्री बेचरदासजी संपादित), पृ० ३३० आदि।

२. देखो उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० २७५।

३, ४, ५. द्रष्टव्य—वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९२; आ० विजयकल्याणसूरि कृत श्रमण भगवान महावीर में विहारस्थलनाम-कोष; The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India.

६. समणस्स णं महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्ज समणोवासगा यावि होत्था।—आचारांग, २, भावचूलिका ३, सूत्र ४०१।

७. भगवती, २, ५।

८. श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३७१।

खुद बुद्ध अपनी बुद्धत्व के पहले की तपचर्या और चर्या का जो वर्णन करते हैं उसके साथ तत्कालीन निग्रंथ आचार[1] का हम जब मिलान करते हैं, कपिल वस्तु के निग्रंथ श्रावक वप्प शाक्य का निर्देश सामने रखते हैं तथा बौद्ध पिटकों मे पाये जाने वाले खास आचार और तत्वज्ञान सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक शब्द[2], जो केवल निग्रंथ प्रवचन में ही पाये जाते हैं—इन सब पर विचार करते हैं तो

---

१. तुलना—दशवैकालिक, अ० ३, ५-१ और मज्झिमनिकाय, महासिंहनादसुत्त ।

२. पुग्गल, आसव, संवर, उपोसथ, सावक, उवासग इत्यादि ।

"पुग्गल" शब्द बौद्ध पिटक में पहले ही से जीव व्यक्ति का बोधक रहा है। (मज्झिमनिकाय ११४)। जैनपरम्परा में वह शब्द सामान्य रूप से जड़ परमाणुओं के अर्थ में रूढ़ हो गया है। तो भी भगवती, दशावैकालिक के प्राचीन स्तरों में उसका बौद्ध पिटक स्वीकृत अर्थ भी सुरक्षित रहा है।

भगवती के ८-१०-३६१ में गौतम के प्रश्न के उत्तर के महावीर के मुख से कहलाया है कि, जीव "पोग्गली" भी है और "पोग्गल" भी। इसी तरह भगवती के २०-२ में जीवतत्व के अभिवचन-पर्यारूप से "पुद्गल" पद आया है। दशवैकालिक ५-१-७३ में "पोग्गल" शब्द "मांस" अर्थ में प्रयुक्त है, जो जीवनधारी के शरीर से सम्बन्ध रखता है ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह शब्द-बौद्ध श्रुत से भिन्न किसी भी प्राचीन उपलब्ध श्रुत में देखा नहीं जाता।

"आसव" और "संवर" ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्धार्थक हैं। आसव चित्त या आत्मा के क्लेश का बोधक है, जब कि संवर उसके निवारण एवं निवारणोपाय का। ये दोनों हले से जैन-आगम और बौद्ध पिटक में समान अर्थ ही प्रयुक्त देखे जाते हैं (तत्वार्थाधिगम सूत्र ६-१, २, ;८-१ ; ९-१; स्थानांगसूत्र १ स्थान; समवायांगसूत्र ५ समवाय; मज्झिमनिकाय २।

"उपोसथ" शब्द गृहस्थों के उपव्रत-विशेष का बोधक है, जो पिटकों में आता है (दीघनिकाय २६)। उसीका एक रूप पोसह भी

ऐसा मानने में कोई खास सन्देह नहीं रहता कि, बुद्ध ने, भले थोड़े ही समय के लिये ही, पार्श्वनाथ की परम्परा को स्वीकार किया था अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी अपनी अन्तिम पुस्तक "पार्श्वनाथाचा चतुर्याम धर्म" (पृ० १४, २६) में ऐसी ही मान्यता सूचित की है।

बुद्ध महावीर से प्रथम पैदा हुए और प्रथम ही निर्वाण प्राप्त किया। बुद्ध ने निर्ग्रंथों के तपःप्रधान आचारों की अवहेलना[1] की है और पूर्व-पूर्व गुरुओं की चर्या तथा तत्वज्ञान का मार्ग छोड़कर अपने अनुभव से एक नये विशिष्ट मार्ग की स्थापना की है, गृहस्थ और त्यागी संघ का नया निर्माण किया है; जब कि महावीर ने ऐसा कुछ नहीं किया। महावीर का पितृधर्म पार्श्वपत्यिक निर्ग्रंथों का है।

है, जो आगमों में पहले से ही प्रयुक्त देखा जाता है (उवासगदसाओ)।

"सावग" तथा "उवासग" ये दोनों शब्द किसी न किसी रूप में पिटक (दीघनिकाय ४) तथा आगमों में पहले से ही प्रचलित रहे हैं। यद्यपि बौद्धपरम्परा में "सावग" का अर्थ है "बुद्ध के साक्षात् भिक्षु-शिष्य" (मज्झिमनिकाय ३), जब कि जैनपरम्परा में वह "उपासक" की तरह गृहस्थ अनुयायी अर्थ में ही प्रचलित रहा है।

कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रम का त्याग कर भिक्षु बनता है तब उस में एक वाक्य रूढ़ है, जो पिटक तथा आगम दोनों में पाया जाता है वह वाक्य है "अगारस्मा अनगारियं पव्वजन्ति" (महावग्ग), तथा "अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए" (भगवती ११-१२-४३१)।

यहाँ केवल नमूने के तौर पर थोड़े से शब्दों की तुलना की गयी है,पर इसके विस्तार के लिए और भी पर्याप्त गुंजाइश है। ऊपर सूचित शब्द और अर्थ का सादृश्य खासा पुराना है। वह अकस्मात् हो ही नहीं सकता। अतएव इसके मूल में कहीं-न-कहीं जाकर एकता खोजनी होगी, जो संभवतः पार्श्वनाथ की परंपरा का ही संकेत करती है।

१. मज्झिमनिकाय, महासिंहनादसुत्त। १।१।२.

उन्होंने कहीं भी उन निग्रंथों के मौलिक आचार एवं तत्वज्ञान की जरा भी अवहेलना नहीं की है; प्रत्युत निर्ग्रन्थों के परम्परागत उन्हीं आचार-विचारों को अपनाकर अपने जीवन के द्वारा उनका संशोधन, परिवर्धन एवं प्रचार किया है। इससे हमें मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि, महावीर पार्श्वनाथ की परम्परा में ही दीक्षित हुए—फिर भले ही वे एक विशिष्ट नेता बने। महावीर तत्कालीन पार्श्वापत्यिक परंपरा में ही हुए, इसी कारण से उनको पार्श्वनाथ के परंपरागत संघ, पार्श्वनाथ के परंपरागत आचार-विचार तथा पार्श्वनाथ के परंपरागत श्रुत विरासत में मिले, जिसका समर्थन नीचे लिखे प्रमाणों से होता है।

संघ—

भगवती १-६-७६ में कालासवेसी नामक पार्श्वापत्यिक का वर्णन है, जिसमें कहा गया है कि, वह किन्हीं स्थविरों से मिला और उसने सामायिक, संयम, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, विवेक आदि सम्बन्धी मुद्दों पर प्रश्न किये। स्थविरों ने उन प्रश्नों का जो जवाब दिया, जिस परिभाषा में दिया और कालासवेसी ने जो प्रश्न जिस परिभाषा में किये हैं, इस पर विचार करें तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि, वे प्रश्न और परिभाषायें सब जैन परिभाषा से ही सम्बद्ध हैं। थेरों के उत्तर से कालासवेसी का समाधान होता है तब वह महावीर द्वारा नवसंशोधित पंचमहाव्रत और प्रतिक्रमणधर्म को स्वीकार करता है। अर्थात् वह महावीर के संघ का एक सभ्य बनता है।

भगवती ५-६-२२६ में कतिपय थेरों का वर्णन है। वे राजगृही में महावीर के पास मर्यादा के साथ जाते हैं, उनसे इस परिमित लोक में अनन्त रात-दिन और परिमित रात-दिन के बारे में प्रश्न पूछते हैं। महावीर पार्श्वनाथ का हवाला देते हुए जवाब देते हैं, पुरिसादाणीय पार्श्व ने लोक का स्वरूप परिमित ही कहा है। फिर वे अपेक्षाभेद से रात-दिन की अनन्त और परिमित संख्या का खुलासा करते हैं। खुलासा सुनकर थेरों को महावीर की सर्वज्ञता

के विषय में प्रतीति होती है, तब वे वन्दन-नमस्कारपूर्वक उनका शिष्यत्व स्वीकार करते हैं, अर्थात् पंच महाव्रतों और सप्रतिक्रमण-धर्म के अंगीकार द्वारा महावीर के संघ के अंग बनते हैं।

भगवती ९-३२-३७८, ३७९ में गांगेय नामक पार्श्वापत्यिक का वर्णन है। वह वाणिज्यग्राम में महावीर के पास जाकर उनसे जीवों की उत्पत्ति-च्युति आदि के बारे में प्रश्न करता है। महावीर जबाब देते हुए प्रथम ही कहते हैं कि, पुरिसादाणीय पार्श्व ने लोक का स्वरूप शाश्वत कहा है। इसी से मैं उत्पत्ति-च्युत आदि का खुलासा अमुक प्रकार से करता हूं। गांगेय पुनः प्रश्न करता है कि, आप जो कहते हैं वह किसी से सुनकर या स्वयं जानकर? महावीर के मुख से यहाँ कहलाया गया है कि, मैं केवली हूं, स्वयं ही जानता हूं। गांगेय को सर्वज्ञता की प्रतीति हुई, फिर वह चातुर्यामिक धर्म से पंचमहाव्रत स्वीकारने की अपनी इच्छा प्रकट करता है और अन्त में सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत स्वीकार करके महावीर के संघ का अंग बनता है।

सूत्रकृतांग के नालंदीया अध्ययन (२-७-७१, ७२, ८१) में पार्श्वापत्यिक उदक पेढाल का वर्णन है, जिसमें कहा गया है कि, नालंदा के एक श्रावक लेप की उदकशाला में जब गौतम थे तब उनके पास वह पार्श्वापत्यिक आया और उसने गौतम से कई प्रश्न पूछे। एक प्रश्न यह था कि, तुम्हारे कुमार-पुत्र आदि निर्ग्रन्थ जब गृहस्थों को स्थूल व्रत स्वीकार कराते हैं तो क्या सिद्ध नहीं होता कि, निषिद्ध हिंसा के सिवाय अन्य हिंसक प्रवृत्तियों में स्थूल व्रत देने वाले निर्ग्रन्थों की अनुमति है? अमुक हिंसा न करो, ऐसी प्रतिज्ञा कराने से यह अपने आप फलित होता है कि, बाकी की हिंसा में हम अनुमत हैं। इत्यादि प्रश्नों का जवाब गौतम ने विस्तार से दिया है। जब उदक पेढाल को प्रतीति हुई कि गौतम का उत्तर सयुक्तिक है तब उसने चातुर्यामधर्म से पंचमहाव्रत स्वीकारने की इच्छा प्रकट की। फिर गौतम उसको अपने नायक ज्ञातपुत्र महावीर के पास ले जाते हैं। वहीं उदक पेढाल पंचमहाव्रत सप्रतिक्रमण-धर्म का अंगीकार करके महावीर के संघ में सम्मिलित होता है। गौतम और उदक पेढाल के बीच हुई विस्तृत चर्चा मनोरंजक है।

उत्तराध्ययन के २३वें अध्ययन में पार्श्वापत्यिक निग्रंथ केशी और महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति—दोनों के श्रावस्ती में मिलने की और आचार-विचार के कुछ मुद्दों पर संवाद होने की बात कही गई है। केशी पार्श्वापत्यिक प्रभावशाली निर्ग्रन्थ रूप से निर्दिष्ट हैं; इन्द्रभूति तो महावीर के प्रधान और साक्षात् शिष्य ही हैं। उनके बीच की चर्चा के विषय कई हैं, पर यहाँ प्रस्तुत दो हैं। केशी गौतम से पूछते हैं कि, पार्श्वनाथ ने चार याम का उपदेश दिया, जब कि वर्धमान—महावीर ने पांच याम-महाव्रत का, सो क्यों? इसी तरह पार्श्वनाथ ने सचेल—सवस्त्र धर्म बतलाया, जबकि महावीर ने अचेल—अवसन धर्म, सो क्यों? इसके जवाब में इन्द्रभूति ने कहा कि,[1] तत्त्वदृष्टि से चार याम और पाँच महाव्रत में कोई अन्तर नहीं है, केवल वर्तमान युग की कम और उलटी समझ देखकर ही महावीर ने विशेष शुद्धि की दृष्टि से चार के स्थान में पाँच महाव्रत का उपदेश किया है और मोक्ष का वास्तविक कारण तो आन्तर ज्ञान, दर्शन और शुद्ध चारित्र ही है, वस्त्र का होना, न होना यह तो लोकदृष्टि है। इन्द्रभूति के मूलगामी जवाब की यथार्थता देखकर केशी पंचमहाव्रत स्वीकार करते हैं और इस तरह महावीर के संघ के एक अंग बनते हैं।

ऊपर के थोड़े से उतारे इतना समझने के लिये पर्याप्त हैं कि महावीर और उनके शिष्य इन्द्रभूति का कई स्थानों में पार्श्वापत्यिकों से मिलन होता है। इन्द्रभूति के अलावा अन्य भी महावीर-शिष्य पार्श्वापत्यिकों से मिलते हैं। मिलाप के समय आपस में चर्चा होती है। चर्चा मुख्य रूप से संयम के जुदे-जुदे अंग के अर्थ के बारे में एवं तत्त्वज्ञान के कुछ मन्तव्यों के बारे में होती है। महावीर जवाब देते समय पार्श्वनाथ के मन्तव्य का आधार भी लेते हैं और पार्श्वनाथ को "पुरिसादाणीय" अर्थात् "पुरुषों में आदेय" जैसा सम्मान-सूचक विशेषण देकर उनके प्रति हार्दिक सम्मान सूचित करते हैं और पार्श्व के प्रति निष्ठा रखने वाले उनकी परम्परा के निर्ग्रन्थों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। पार्श्वापत्यिक भी महावीर को अपनी परीक्षा में खरे उतरे देखकर उनके संघ में दाखिल होते हैं;

१. उत्तराध्ययन, अ० २३, श्लोक २३-३२।

अर्थात् वे पार्श्वनाथ के परम्परा संघ और महावीर के नवस्थापित संघ – दोनों के संधान में एक कड़ी बनते हैं। इससे यह मानना पड़ता है कि, महावीर ने जो संघ रचा उसकी भित्ति पार्श्वनाथ की संघ-परंपरा है।

यद्यपि कई पार्श्वापत्यिक महावीर के संघ में प्रविष्ट हुए, तो भी कुछ पार्श्वापत्यिक ऐसे भी देखे जाते हैं, जिनका महावीर के संघ में सम्मिलित होना निर्दिष्ट नहीं है। इसका एक उदाहरण भगवती २-५ में यों है—तुन्गीया नामक नगर में ५०० पार्श्वापत्यिक श्रमण पधारते हैं। वहाँ के तत्वज्ञ श्रमणोपासक उनसे उपदेश सुनते हैं, पार्श्वापत्यिक स्थविर उनको चार याम आदि का उपदेश करते हैं। श्रावक उपदेश से प्रसन्न होते हैं और धर्म में स्थिर होते हैं। वे स्थविरों से संयम, तप आदि के विषय में तथा उसके फल के विषय में प्रश्न करते हैं। पार्श्वापत्यिक स्थविरों में से कालियपुत्त, मेहिल, आनन्दरक्खिय और कासव ये—चार स्थविर अपनी-अपनी दृष्टि से जवाब देते हैं। पार्श्वापत्यिक स्थविर और पार्श्वापत्यिक श्रमणोपासक के बीच तुन्गीया में हुए इस प्रश्नोत्तर का हाल इन्द्रभूति राजगृही में सुनते हैं और फिर महावीर से पूछते हैं कि—"क्या ये पार्श्वापत्यिक स्थविर प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं?" महावीर स्पष्टतया कहते हैं कि—"वे समर्थ हैं। उन्होंने जो जवाब दिया वह सच है; मैं भी वही जवाब देता।" इस संवादकथा में ऐसा कोई निर्देश नहीं कि, तुन्गीया वाले पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ या श्रमणोपासक महावीर के संघ में प्रविष्ट हुए। यदि वे प्रविष्ट होते तो इतने बड़े पार्श्वापत्यिक संघ के महावीर के संघ में सम्मिलित होने की बात समकालीन या उत्तरकालीन आचार्य शायद ही भूलते।

यहाँ एक बात खास ध्यान देने योग्य है कि, पार्श्वापत्यिक श्रमण न तो महावीर के पास आये हैं, न उनके संघ में प्रविष्ट हुए हैं, फिर भी महावीर उनके उत्तर को सच्चाई और क्षमता को स्पष्ट स्वीकार ही करते हैं।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि, जो पार्श्वापत्यिक महावीर के संघ में आये वे भी महावीर की सर्वज्ञता के बारे में

पूरी प्रतीति कर लेने के पश्चात् ही उनको विधिवत् वन्दन-नमस्कार--"तिक्खुतो आयाहिणं पयाहिणं वन्दामि" करते हैं; उसके पहले तो वे केवल उनके पास शिष्टता के साथ आते हैं—"अदूर-सामंते ठिच्चा"।

पार्श्वनाथ की परंपरा के त्यागी और गृहस्थ व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली, उपलब्ध आगमों में जो कुछ सामग्री है, उसको योग्य रूप में संकलित एवं व्यवस्थित करके पार्श्वनाथ के महावीर-कालीन संघ का सारा चित्र पं० दलसुख मालवणिया ने अपने एक अभ्यासपूर्ण लेख में, बीस वर्ष पहले खींचा है, जो इस प्रसंग में खास द्रष्टव्य है। यह लेख 'जैन प्रकाश' के 'उत्थान-महावीरांक' में छपा है।

आचार—

अब हम आचार की विरासत के प्रश्न पर आते हैं। पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थों का आचार बाह्य-आभ्यन्तर दो रूप में देखने में आता है। अनगारत्व, निर्ग्रन्थत्व, सचेलत्व, शीत, आतप आदि परिषह-सहन, नाना प्रकार के उपवासव्रत और भिक्षाविधि के कठोर नियम इत्यादि बाह्य आचार हैं। सामायिक समत्व या समभाव, पच्चक्खाण—त्याग, संयम—इन्द्रियनियमन, संवर--कषायनिरोध, विवेक--अलिप्तता या सदसद्विवेक, व्युत्सर्ग—ममत्वत्याग, हिंसा असत्य अदत्तादान और बहिद्धादाण से विरति इत्यादि आभ्यन्तर आचार में सम्मिलित हैं।

पहले कहा जा चुका है कि, बुद्ध ने गृहत्याग के बाद निर्ग्रंथ आचारों का भी पालन किया था। बुद्ध ने अपने द्वारा आचरण किये गये निर्ग्रंथ आचारों का जो संक्षेप में संकेत किया है उसका पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथों की चर्या के उपलब्ध वर्णन के साथ मिलान करते हैं[1] एवं महावीर के द्वारा आचरित बाह्य चर्या के साथ मिलान करते हैं[2] तो सन्देह नहीं रहता कि, महावीर को निर्ग्रंथ

---

१. दशवैकालिक, अ० ३,५-१ और मज्झिमनिकाय, महासिंहनादसुत्त।
२. आचारांग, अ० ९।

या अनगार धर्म की बाह्य चर्या पार्श्वापत्यिक परंपरा से मिली है—भले ही उन्होंने उसमें देशकालानुसारी थोड़ा बहुत परिवर्तन किया हो। आभ्यन्तर आचार भी भगवान् महावीर का वही है जो पार्श्वापत्यिकों में प्रचलित था। कालासवेसीपुत्त जैसे पार्श्वापत्यिक आभ्यन्तर चरित्र से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों का जब अर्थ पूछते हैं तब महावीर के अनुयायी स्थविर वही जवाब देते हैं, जो पार्श्वापत्यिक परंपरा में भी प्रचलित था।

निर्ग्रंथों के बाह्य-आभ्यन्तर आचार-चारित्र के पार्श्वपरंपरा से विरासत में मिलने पर भी महावीर ने उसमें जो सुधार किया है वह भी आगमों के विश्वसनीय प्राचीन स्तर में सुरक्षित है। पहले संघ की विरासतवाले वर्णन में हमने सूचित किया ही है कि, जिन-जिन पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथों ने महावीर का नेतृत्व माना उन्होंने सप्रतिक्रमण पांच महाव्रत स्वीकार किये। पार्श्वनाथ की परंपरा में चार याम थे, इसलिए पार्श्वनाथ का निर्ग्रंथ धर्म चातुर्याम कहलाता था। इस बात का समर्थन बौद्ध पिटक दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में आये हुए निर्ग्रंथ के "चातु-याम-संवर-संवुतो" इस विशेषण से होता है। यद्यपि उस सूत्र में ज्ञातपुत्र महावीर के मुख से चातुर्यामधर्म का वर्णन बौद्ध पिटक-संग्राहकों ने कराया है, पर इस अंश में वे भ्रान्त जान पड़ते हैं। पार्श्वापत्यिक परंपरा बुद्ध के समय में विद्यमान भी थी और उससे बुद्ध का तथा उनके कुछ अनुयायियों का परिचय भी था, इसलिए वे चातुर्याम के बारे में ही जानते थे। चातुर्याम के स्थान में पाँच यम या पाँच महाव्रत का परिवर्तन महावीर ने किया, जो पार्श्वापत्यिकों में से ही एक थे। यह परिवर्तन पार्श्वापत्यिक परंपरा की दृष्टि से भले ही विशेष महत्व रखता हो, पर निर्ग्रंथ-भिन्न इतर समकालीन बौद्ध जैसी श्रमण परंपराओं के लिए कोई खास ध्यान देने योग्य बात न थी। जो परिवर्तन किसी एक फिरके की आन्तरिक वस्तु होती है उसकी जानकारी इतर परंपराओं में बहुधा तुरन्त नहीं होती। बुद्ध के सामने समर्थ पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र महावीर ही रहे, इसलिए बौद्धग्रन्थ में पार्श्वापत्यिक परम्परा का चातुर्याम धर्म महावीर के से कहलाया जाय तो यह स्वाभाविक है। परन्तु इस वर्णन के ऊपर से इतनी बात निर्विवाद साबित होती है कि, पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथ

पहले चातुर्यामधर्म के अनुयायी थे और महावीर के सम्बन्ध से उस परंपरा में पंच यम दाखिल हुए; दूसरा सुधार महावीर ने सप्रतिक्रमण धर्म दाखिल करके किया है, जो एक निर्ग्रंथ परम्परा का आंतरिक सुधार है। संभवतः इसीलिये बौद्ध ग्रन्थों में इसका कोई निर्देश नहीं।

बौद्ध ग्रन्थों में[1] पूरणकाश्यप द्वारा कराये गये निर्ग्रंथ के वर्णन में 'एकशाटक' विशेषण आता है; 'अचेल' विशेषण आजीवक के साथ आता है। निर्ग्रंथ का 'एकशाटक' विशेषण मुख्यतया पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथ की ओर ही संकेत करता है। हम आचारांग में वर्णित और सबसे अधिक विश्वसनीय महावीर के जीवन-अंश से यह तो जानते ही हैं कि महावीर ने गृहत्याग किया तब एक वस्त्र-चेल धारण किया था। क्रमशः उन्होंने उसका हमेशा के वास्ते त्याग किया और पूर्णतया अचेलत्व स्वीकार किया[2]। उनकी यह अचेलत्व भावना मूलगत रूप से हो या पारिपार्श्विक परिस्थिति में से ग्रहण कर आत्मसात् की हो, यह प्रश्न यहाँ प्रस्तुत नहीं; प्रस्तुत इतना ही है कि, महावीर ने सचेलत्व में से अचेलत्व की ओर कदम बढ़ाया। इस प्रकाश में हम बौद्धग्रन्थों में आये हुए निर्ग्रंथ के विशेषण "एकशाटक" का तात्पर्य सरलता से निकाल सकते हैं। वह यह कि, पार्श्वापत्यिक परंपरा में निर्ग्रंथ के लिए मर्यादित वस्त्रधारण वर्जित न था, जब कि महावीर ने वस्त्रधारण के बारे में अनेकान्त-दृष्टि से काम लिया। उन्होंने सचेलत्व और अचेलत्व दोनों को निर्ग्रंथ संघ के लिये यथाशक्ति और यथारुचि स्थान दिया। अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी अपने "पार्श्वनाथाचा चातुर्यामधर्म"

---

१. अंगुत्तरनिकाय छक्कनिपात, २-१।

२. णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते।
से पारए आवकहाए एयं खु अणुधम्मियं तस्स ॥२॥
संवच्छरं साहियं मासं जं न रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए तओ चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे ॥४॥
—आचारांग, १-९-१।

(पृ० २०) में ऐसा ही मत दर्शाया है। इसी से हम उत्तराध्ययन के केशी-गौतम-संवाद में अचेल और सचेल धर्म के बीच समन्वय पाते हैं। उसमें खास तौर से कहा गया है कि, मोक्ष के लिये तो मुख्य और पारमार्थिक लिंग—साधन ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आध्यात्मिक सम्पत्ति ही है। अचेलत्व या सचेलत्व यह तो लौकिक-बाह्य लिंगमात्र है, पारमार्थिक नहीं।

इस तात्पर्य का समर्थन भगवती आदि में वर्णित पार्श्वापत्यिकों के परिवर्तन से स्पष्ट होता है। महावीर के संघ में दाखिल होने वाले किसी भी पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथ के परिवर्तन के बारे में यह उल्लेख नहीं है कि, उसने सचेलत्व के स्थान में अचेलत्व स्वीकार किया; जब कि उन सभी परिवर्तन करनेवाले निर्ग्रंथों के लिये निश्चित रूप से कहा गया है कि उन्होंने चार याम के स्थान में पाँच महाव्रत और प्रतिक्रमणधर्म स्वीकार किया।

महावीर के व्यक्तित्व, उनकी आध्यात्मिक दृष्टि और अनेकान्तवृत्ति को देखते हुये ऊपर वर्णन की हुई सारी घटना का मेल सुसंगत बैठ जाता है। महाव्रत और प्रतिक्रमण का सुधार, यह अन्तःशुद्धि का सुधार है इसलिये महावीर ने उस पर पूरा भार दिया, जबकि स्वयं स्वीकार किये हुए अचेलत्व पर एकान्त भार नहीं दिया। उन्होंने सोचा होगा कि, आखिर अचेलत्व या सचेलत्व, यह कोई जीवन-शुद्धि की अन्तिम कसौटी नहीं है। इसीलिये उनके निर्ग्रंथसंघ में सचेल और अचेल दोनों निर्ग्रंथ अपनी-अपनी रुचि एवं शक्ति का विचार करके ईमानदारी के साथ परस्पर उदार भाव से रहे होंगे। उत्तराध्ययन का वह संवाद उस समय की सूचना देता है, जब कि कभी निर्ग्रंथों के बीच सचेलत्व और अचेलत्व के बारे में सारासार के तारतम्य की विचारणा चली होगी। पर उस समन्वय के मूल में अनेकान्तदृष्टि का जो यथार्थ प्राण स्पन्दित होता है वह महावीर के विचार की देन है।

पार्श्वापत्यिक परम्परा में जो चार याम थे उनके नाम स्थानांगसूत्र में यों आते हैं; (१) सर्वप्राणातिपात–, (२) सर्वमृषावाद–,

(३) सर्वअदत्तादान—और (४) सर्वबहिद्धादाण—से विरमण[1]। इनमें से "बहिद्धादाण" का अर्थ जानना यहाँ प्राप्त है। नवांगी-टीकाकार अभयदेव ने 'बहिद्धादाण" शब्द का अर्थ "परिग्रह" सूचित किया है। "परिग्रह से विरति" यह पार्श्वापत्यिकों का चौथा याम था, जिसमें अब्रह्म का वर्जन अवश्य अभिप्रेत था।[2] पर जब मनुष्यसुलभ दुर्बलता के कारण अब्रह्मविरमण में शिथिलता आई और परिग्रहविरति के अर्थ में स्पष्टता करने की जरूरत मालूम हुई तब महावीर ने अब्रह्मविरमण को परिग्रहविरमण से अलग स्वतन्त्र यम रूप में स्वीकार करके पाँच महाव्रतों की भीष्मप्रतिज्ञा निर्ग्रंथों के लिए रक्खी और स्वयं उस प्रतिज्ञा-पालन के पुरस्कर्ता हुए। इतना ही नहीं बल्कि क्षण-क्षण के जीवनक्रम में बदलनेवाली मनोवृत्तियों के कारण होनेवाले मानसिक, वाचिक, कायिक दोष भी महावीर को निर्ग्रन्थजीवन के लिए अत्यन्त अखरने लगे, इससे उन्होंने निर्ग्रंथजीवन में सतत जागृति रखने की दृष्टि से प्रतिक्रमण धर्म को नियत स्थान दिया, जिससे कि प्रत्येक निर्ग्रंथ सायं-प्रातः अपने जीवन की त्रुटियों का निरीक्षण करे और लगे दोषों की आलोचनापूर्वक आयंदा दोषों से बचने के लिए शुद्ध संकल्प को दृढ़ करे। महावीर की जीवनचर्या और उनके उपदेशों से यह भलीभाँति जान पड़ता है कि, उन्होंने स्वीकृत प्रतिज्ञा की शुद्धि और अन्तर्जागृति पर जितना भार दिया है उतना अन्य चीजों पर नहीं। यही कारण है कि तत्कालीन अनेक पार्श्वापत्यिकों के रहते हुए भी उन्हीं में से

---

१. मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति तं० – सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवंमुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं १।—स्थानांग, सूत्र २६६, पत्र २०१ अ।

२. "बहिद्धादाणाओ" त्ति बहिद्धा—मैथुनं पहिग्रहविशेषः आदानं च परिग्रहस्तयोर्द्वन्द्वैकत्वमथवा आदीयत इत्यादानं परिग्राह्यं वस्तु तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह—बहिस्तात्-धर्मोपकरणाद् बहिर्यदिति। इह च मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषित् भुज्यत इति।
—स्थानांग, २६६ सूत्रवृत्ति, पत्र २०१ ब।

एक ज्ञातपुत्र महावीर ही निर्ग्रंथ संघ के अगुवा रूप से या तीर्थंकर रूप से माने जाने लगे। महावीर के उपदेशों में जितना भार कषायविजय पर है--जो कि निर्ग्रंथजीवन का मुख्य साध्य है—उतना भार अन्य किसी विषय पर नहीं है। उनके इस कठोर प्रयत्न के कारण ही चार याम का नाम स्मृतिशेष बन गया व पाँच महाव्रत संयमधर्म के जीवित अंग बने।

महावीर के द्वारा पंच महाव्रत-धर्म के नये सुधार के बारे में तो श्वेताम्बर-दिगम्बर एकमत हैं, पर पाँच महाव्रत से क्या अभिप्रेत है, इस बारे में विचारभेद अवश्य है। दिगंबराचार्य वट्टकेर का "मूलाचार" नामक एक ग्रन्थ है–जो संग्रहात्मक है–उसमें उन्होंने पाँच महाव्रत का अर्थ पाँच यम न बतलाकर केवल जैन परंपरापरिचित पाँच चारित्र बतलाया है। उनका कहना है कि, महावीर के पहले मात्र सामायिक के ही विस्तार रूप से अन्य चार चारित्र बतलाये; जिससे महावीर पंच महाव्रत धर्म के उपदेशक माने जाते हैं। आचार्य वट्टकेर की तरह पूज्यपाद, अकलंक, आशाधर आदि लगभग सभी दिगंबराचार्य और दिगम्बर विद्वानों का वह एक ही अभिप्राय है[1]। निःसन्देह श्वेतांबर-परंपरा के पंच महाव्रतधर्म के खुलासे से दिगंबर-परंपरा का तत्संबंधी खुलासा जुदा पड़ता है। भद्रबाहुकर्तृक मानी जानेवाली निर्युक्ति में भी छेदोपस्थापना चारित्र को दाखिल करके पांच चारित्र महावीरशासन में प्रचलित किये जाने की कथा निर्दिष्ट है, पर यह कथा केवल चारित्र-परिणाम की तीव्रता, तीव्रतरता और तीव्रतमता के तारतम्य पर एवं भिन्न-भिन्न दीक्षित व्यक्ति के अधिकार पर प्रकाश डालती है, न कि समग्र निर्ग्रंथों के लिये अवश्य स्वीकार्य पंच महाव्रतों के ऊपर। जबकि महावीर का पंच महाव्रत-धर्म-विषयक सुधार निर्ग्रंथ दीक्षा लेनेवाले सभी के लिए एकसा रहा, ऐसा भगवती आदि ग्रन्थों से तथा बौद्ध पिटक निर्दिष्ट 'चातुर्याम-संवर-संवुतो[2] इस विशेषण से फलित होता है। इसके समर्थनमें

१. देखो—पं० जुगल किशोर जी मुख्तारकृत जैनाचार्यों का शासन-भेद, परिशिष्ट 'क'।

२. "चातु-याम-संवर-संवुतो" इस विशेषण के बाद "सव्व-वारि-वारितो" इत्यादि विशेषण ज्ञातपुत्र महावीर के लिए आते हैं।

प्रतिक्रमणधर्म का उदाहरण पर्याप्त है। महावीर ने प्रतिक्रमणधर्म भी सभी निर्ग्रंथों के लिए समान रूप से अनुशासित किया। इस प्रकाश में पंच महाव्रतधर्म का अनुशासन भी सभी निर्ग्रंथों के लिये रहा हो, यही मानना पड़ता है। मूलाचार आदि दिगंबरपरंपरा में जो विचारभेद सुरक्षित है वह साधार अवश्य है, क्योंकि श्वेतांबरीय सभी ग्रन्थ छेदोपस्थान सहित पांच चरित्र का प्रवेश महावीर के शासन में बतलाते हैं। पाँच महाव्रत और पाँच चारित्र ये एक नहीं। दोनों में पाँच की संख्या समान होने से मूलाचार आदि ग्रंथों में एक विचार सुरक्षित रहा तो श्वेतांबर ग्रंथों में दूसरा भी विचार सुरक्षित है। कुछ भी हो, दोनों परंपरायें पंच महाव्रतधर्म के सुधार के बारे में एक-सी सम्मत हैं।

वस्तुतः पाँच महाव्रत यह पार्श्वापत्यिक चातुर्याम का स्पष्टीकरण ही है। इससे यह कहने में कोई बाधा नहीं कि, महावीर को संयम या चारित्र की विरासत भी पार्श्वनाथ की परम्परा से मिली है।

हम योगपरंपरा के आठ योगांग से परिचित हैं। उनमें से प्रथम अंग यम है। पातंजल योगशास्त्र (२-३०, ३१) में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम गिनाये हैं; साथ ही

इनमें से "सब्ब-वारि-वारितो" का अर्थ अट्ठकथा के अनुसार श्रीराहुल जी आदि ने किया है कि--"निगण्ठ (निर्ग्रंथ) जल के व्यवहार का वारण करता है (जिससे जल के जीव न मारे जावें)।" (दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० २१) पर यह अर्थ भ्रमपूर्ण है। जलबोधक "वारि" शब्द होने से तथा निर्ग्रन्थ सचित्त जल का उपयोग नहीं करते, इस वस्तुस्थिति के दर्शन से भ्रम हुआ जान पड़ता है। वस्तुतः "सब्ब-वारि-वारिता" का अर्थ यही है कि-सब अर्थात् हिंसा आदि चारों पापकर्म के वारि अर्थात् वारण याने निषेध के कारण वारित अर्थात् विरत; याने हिंसा आदि सब पापकर्मों के निवारण के कारण उन दोषों से विरत। यही अर्थ अगले "सब्ब-वारि-युतो", सब्ब-वारि-धुतो" इत्यादि विशेषण में स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः सभी विशेषण एक ही अर्थ को भिन्न-भिन्न भंगी से दरसाते हैं।

इन्हीं पाँच यमों को महाव्रत भी कहा है—जबकि वे पाँच यम परिपूर्ण या जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्न हों। मेरा ख्याल है कि, महावीर द्वारा पाँच यमों पर अत्यन्त भार देने एवं उनको महाव्रत के रूप से मान लेने के कारण ही 'महाव्रत' शब्द पाँच यमों के लिये विशेष प्रसिद्धि में आया। आज तो यम या याम शब्द पुराने जैनश्रुत में बौद्ध पिटकों में और उपलब्ध योगसूत्र में मुख्यतया सुरक्षित है। 'यम' शब्द का उतना प्रचार अब नहीं है, जितना प्रचार 'महाव्रत' शब्द का।

जब चार याम में से महावीर के पांच महाव्रत और बुद्ध के पाँच शील के विकास पर विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि, पार्श्वनाथ के चार याम की परंपरा का ज्ञातपुत्र ने अपनी दृष्टि के अनुसार और शाक्यपुत्र ने अपनी दृष्टि के अनुसार विकास किया है[1], जो अभी जैन और बौद्ध परंपरा में विरासतरूप से विद्यमान है।

श्रुत—

अब हम अन्तिम विरासत—श्रुतसम्पत्ति—पर आते हैं। श्वेतांबर-दिगम्बर दोनों के वाङ्मय में जैन श्रुत का द्वादशांगी रूप से निर्देश है[2]। आचारांग आदि ग्यारह अंग और बारहवें दृष्टिवाद अंग का एक भाग चौदह पूर्व, ये विशेष प्रसिद्ध हैं। आगमों के प्राचीन समझे जाने वाले भागों में जहाँ किसी के अनगार धर्म स्वीकार करने की कथा है वहाँ या तो ऐसा कहा गया है कि वह

---

१. अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने अन्त में जो 'पार्श्वनाथचा चातुर्याम धर्म' नामक पुस्तक लिखी है उसका मुख्य उद्देश्य ही यह है कि, शाक्यपुत्र ने पार्श्वनाथ केचातुर्यामधर्म की परंपरा का विकास किस-किस तरह से किया, यह बतलाना।

२. षट्खण्डागम (धवला टीका), खण्ड १, पृ० ६ : बारह अंगगिज्झा। समवायांग, पत्र १०६, सूत्र १३६ : दुवालसंगे गणिपिडगे। नन्दीसूत्र (विजयदानसूरि संशोधित) पत्र ९४ : अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं।

सामयिक आदि ग्यारह अंग पढ़ता है या वह चतुर्दश पूर्व पढ़ता है।[1] हमें इन उल्लेखों के ऊपर से विचार यह करना है कि, महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ या उनकी परंपरा की श्रुत-सम्पत्ति क्या थी ? और इसमें से महावीर को विरासत मिली या नहीं ? एवं मिली तो किस रूप में ?

शास्त्रों में यह तो स्पष्ट ही कहा गया है कि, आचारांग आदि ग्यारह अंगों की रचना महावीर के अनुगामी गणधरों ने की।[2] यद्यपि नन्दीसूत्र की पुरानी व्याख्या–चूर्णि—जो विक्रम की आठवीं सदी से अर्वाचीन नहीं—उसमें 'पूर्व' शब्द का अर्थ बतलाते हुये कहा गया है कि, महावीर ने प्रथम उपदेश दिया इसलिये 'पूर्व' कहलाये[3], इसी तरह विक्रम की नौवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य वीरसेन ने धवला में 'पूर्वगत' का अर्थ बतलाते हुए कहा कि जो पूर्वों को प्राप्त हो या जो पूर्व स्वरूप प्राप्त हो वह 'पूर्वगत'[4]; परन्तु चूर्णिकार एवं उत्तरकालीन वीरसेन, हरिभद्र, मलयगिरि आदि व्याख्याकारों का वह कथन पूर्व और केवल 'पूर्वगत' शब्द का अर्थ घटन करने के अभिप्राय से हुआ जान पड़ता है। जब भगवती में कई जगह महावीर के मुख से यह कहलाया गया है कि, अमुक वस्तु पुरुषादानीय

---

१. ग्यारह अंग पढ़ने का उल्लेख—भगवती ११-९-४-१८, १६-५, पृ० ७६; ज्ञाता धर्मकथा, अ० १२। चौदह पूर्व पढ़ने का उल्लेख—भगवती ११-११-४३२, १७-२-६१७; ज्ञाता धर्मकथा, अ० ५। ज्ञाता० अ० १६ में पांडवों के चौदह पूर्व पढ़ने का व द्रौपदी के ग्यारह अंग पढ़ने का उल्लेख है। इसी तरह ज्ञाता० २-१ में काली साध्वी बन कर ग्यारह अंग पढ़ती है, ऐसा वर्णन है।

२-३. जम्हा तित्थकरो तित्थपवत्तणकाले गणधराण सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगतसुत्तत्थं भासति तुम्हा पुव्वं ति भणिता, गणधरा पुण सुतरयणं करेन्ता आयाराइकमेण एएंति ठवेंति य।
—नन्दीसूत्र (विजयदानसूरिसंशोधित) चूर्णि, पृ० १११ अ।

४. पुव्वाणं गयं पत्त-पुव्यसरूवं वा पुव्वगयमिदि गणणामं।
—षट्खंडागम (धवला टीका), पुस्तक १, पृ० ११४।

पार्श्वनाथ ने वही कही है जिसको मैं भी कहता हूँ, और जब हम सारे श्वेतांबर-दिगंबर श्रुत द्वारा यह भी देखते हैं कि, महावीर का तत्त्वज्ञान वही है जो पार्श्वापत्यिक परंपरा से चला आता है, तब हमें 'पूर्व' शब्द का अर्थ समझने में कोई दिक्कत नहीं आती। पूर्व श्रुत का अर्थ स्पष्टतः यही है कि, जो श्रुत महावीर के पूर्व से पार्श्वापत्यिक परम्परा द्वारा चला आता था और जो किसी न किसी रूप में महावीर को प्राप्त हुआ। प्रो० याकोबी आदि का भी ऐसा ही मत है[1]। जैन श्रुत के मुख्य विषय नवतत्त्व, पंच अस्तिकाय, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध, उसके कारण, उसकी निवृत्ति के उपाय, कर्म का स्वरूप इत्यादि हैं। इन्हीं विषयों को महावीर और उनके शिष्यों ने संक्षेप से विस्तार और विस्तार से संक्षेप कर भले ही कहा हो, पर वे सब विषय पार्श्वापत्यिक परंपरा के पूर्ववर्ती श्रुत में किसी न किसी रूप में निरूपित थे, इस विषय में कोई सन्देह नहीं। एक भी स्थान में महावीर या उनके शिष्यों में से किसी ने ऐसा नहीं कहा कि, जो महावीर का श्रुत है वह अपूर्व अर्थात् नवोत्पन्न है। चौदह पूर्व के विषयों की एवं उनके भेद प्रभेदों की जो टूटी-फूटी यादी नन्दीसूत्र[2] में तथा धवला[3] में मिलती है उसका आचारांग आदि ग्यारह अंगों में तथा अन्य उपांग आदि शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों के साथ मिलान करते हैं तो, इसमें सन्देह ही नहीं रहता कि, जैन परंपरा के आचार-विचार विषयक मुख्य मुद्दों की चर्चा, पार्श्वापत्यिक परंपरा के पूर्वश्रुत और महावीर की परंपरा के अंगोपांग श्रुत में समान ही है। इससे मैं अभी तक निम्नलिखित निष्कर्ष पर आया हूं :—

(१) पार्श्वनाथीय परंपरा का पूर्वश्रुत महावीर को किसी-न-

---

१. डा याकोबी The name (पूर्व) itself testifies to the fact that the Purvas were superseded by a new canon, for Purva means former, earlier

—Sacred Books of the East, Vol XXII
Introduction P. XLIV.

२. नन्दीसूत्र, पत्र १०६ अ से।

३. षट्खण्डागम (धवला टीका), पुस्तक १, पृ० ११४ से।

किसी रूप में प्राप्त हुआ। उसी में प्रतिपादित विषयों पर ही उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार आचारांग आदि ग्रन्थों की जुदे जुदे हाथों से रचना हुई।

(२) महावीरशासित संघ में पूर्वश्रुत और आचारांग आदि श्रुत—दोनों की बड़ी प्रतिष्ठा रही। फिर भी पूर्वश्रुत की महिमा अधिक ही की जाती रही है। इसी से हम दिगम्बर-श्वेतांबर दोनों परंपरा के साहित्य में आचार्यों का ऐसा प्रयत्न पाते हैं जिसमें वे अपने अपने कर्म विषयक तथा ज्ञान आदि विषयक इतर पुरातन ग्रन्थों का सम्बन्ध उस विषय के पूर्वनामक ग्रन्थ से जोड़ते हैं, इतना ही नहीं पर दोनों परंपरा में पूर्वश्रुत का क्रमिक ह्रास लगभग एक-सा वर्णित होने पर भी कमोवेश प्रमाण में पूर्वज्ञान को धारण करने वाले आचार्यों के प्रति विशेष बहुमान दरसाया गया है। दोनों परंपरा के वर्णन से इतना निश्चित मालूम पड़ता है कि, सारी निर्ग्रंथ परंपरा अपने वर्तमान श्रुत का मूल पूर्व में मानती आई है।

(३) पूर्वश्रुत में जिस जिस देश-काल का एवं जिन-जिन व्यक्तियों के जीवन का प्रतिबिम्ब था उससे आचारांग आदि अंगों में भिन्न देशकाल एवं भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा यह स्वाभाविक है; फिर भी आचार एवं तत्त्वज्ञान के मुख्य मुद्दों के स्वरूप में दोनों में कोई खास अन्तर नहीं पड़ा।

उपसंहार—

महावीर के जीवन तथा धर्मशासन से सम्बद्ध अनेक प्रश्न ऐसे हैं, जिनकी गवेषणा आवश्यक है; जैसे कि आजीवक परंपरा से महावीर का सम्बन्ध तथा इतर समकालीन तापस, परिव्राजक और बौद्ध आदि परंपराओं से उनका सम्बन्ध—ऐसे सम्बन्ध जिन्होंने महावीर के प्रवृत्ति क्षेत्र पर कुछ असर डाला हो या महावीर की धर्म प्रवृत्ति ने उन परंपराओं पर कुछ-न-कुछ असर डाला हो।

इसी तरह पार्श्वनाथ की जो परंपरा महावीर के संघ में सम्मिलित होने से तटस्थ रही उसका अस्तित्व कब तक, किस किस रूप में और कहाँ कहाँ रहा अर्थात् उसका भावी क्या हुआ—यह प्रश्न भी विचारणीय है। खारवेल, जो अद्यतन संशोधन के अनुसार जैन

परंपरा का अनुगामी समझा जाता है, उसका दिगम्बर या श्वेतांबर श्रुत में कहीं भी निर्देश नहीं इसका क्या कारण? क्या महावीर की परंपरा में सम्मिलित नहीं हुए ऐसे पार्श्वापत्यिकों की परंपरा के साथ तो उसका सम्बन्ध रहा न हो? इत्यादि प्रश्न भी विचारणीय हैं।

प्रो० याकोबी ने कल्पसूत्र की प्रस्तावना में गौतम और बौधायन धर्मसूत्र के साथ निर्ग्रंथों के व्रत-उपव्रत की तुलना करते हुए सूचित किया है कि, निर्ग्रंथों के सामने वैदिक संन्यासी धर्म का आदर्श रहा है इत्यादि। परन्तु इस प्रश्न को भी अब नये दृष्टिकोण से विचारना होगा कि, वैदिक परंपरा, जो मूल में एकमात्र गृहस्थाश्रम प्रधान रही जान पड़ती है, उसमें संन्यास धर्म का प्रवेश कब कैसे और किन बलों से हुआ और अन्त में वह संन्यास धर्म वैदिक परंपरा का एक आवश्यक अंग कैसे बन गया? इस प्रश्न की मीमांसा से महावीर पूर्ववर्ती निर्ग्रंथ परंपरा और परिव्राजक परंपरा के सम्बन्ध पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

परन्तु उन सब प्रश्नों को भावी विचारकों पर छोड़कर प्रस्तुत लेख में मात्र पार्श्वनाथ और महावीर के धार्मिक संबन्ध का ही संक्षेप में विचार किया है।

— —

परिशिष्ट

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति २ त्ता थेरे भगवंते एवं वयासी—थेरा सामाइयं ण जाणंति थेरा सामाइयस्स अट्ठं ण याणंति थेरा पच्चक्खाणं ण याणंति थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संवरं ण याणंति थेरा संवरस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विवेगं ण याणंति थेरा विवेगस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गं ण याणंति थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं ण याणंति ६। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—जाणामो णं अज्जो! सामाइयं जाणामो णं अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठं जाव जाणामो णं अज्जो ! विउस्सगस्स अट्ठं। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी—जति णं अज्जो ! तुब्मे जाणह सामाइयं जाणह सामाइयस्स अट्ठं जाव जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठं, के भे अज्जो ! सामाइए के भे अज्जो सामाइयस्स अट्ठे जाव के भे विउस्सगस्स अट्ठे ? तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—आया णे अज्जो ! सामाइए आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे।

एत्थ णं से कालासवेसियपुत्तो अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते वंदति णमंसति २ त्ता एवं वयासो—एएसि णं भंते ! पयाणं पुव्वि अण्णाणयाए असवणयाए अबोहियाए...

णो रोइए इयाणि भंते ! एतेसिं पयाणं जाणयाए...

रोएमि एवमेयं से जहेयं तुब्मे वदह,

तए णं से कालासवेसियपुत्तो अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति १ शतक ९ उद्देश। सू० ७६

तेणं कालेणं २ पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति २ समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामंते ठिच्चा एवं वदासी से नूणं भते ! असंखेज्जे लोए अणंता रातिंदिया उप्पज्जिसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा विगच्छिसु वा विगच्छंति वा विगच्छिस्संति वा परित्ता रातिंदिया उप्पज्जिसु वा ३ विगच्छिसु वा ३ ? हंता अज्जो ! असंखेज्जे लोए अणंता रातिंदिया तं चेव। से केणट्ठेणं जाव विगच्छिस्संति वा ? से नूणं भंते अज्जो पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं सासए लोए वुइए...

जे लोक्कइ से लोए ? हंता भगवं !, से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ असंखेज्जे तं चेव। तप्पभिंतिं च णं ते पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणंति सव्वन्नू सव्वदरिसी तए णं ते थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति २, एवं वदासि—इच्छामि णं भंते ! तुब्मे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सप्पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेह।

व्याख्याप्रज्ञप्ति ५ शतक ६ उद्देश। सू० २२७

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नगरे होत्था।...

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे गंगेए नामं अणगारे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-संतरं भंते ! नेरइया उववज्जंति निरन्तरं नेरइया उववज्जंति ? गंगेया ! संतरं पि नेरइया उववज्जंति निरंतरं पि नेरइया उववज्जंति। (सू० ३७१)

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सतो नेरइया उववज्जंति नो असतो नेरइया उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया चयंति नो असओ वेमाणिया चयंति ? से नूणं भंते ! गंगेया ! पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं सासए लोए वुइए......।

सयं भंते ! एवं जाणह उदाहु असयं असोच्चा एते एवं जाणह उदाहु सोच्चा सतो नेरइया उववज्जंति नो असतो नेरइया उववज्जंति......।

गंगेया ! सयं एते एवं जणामि नो असयं, (सू० ३७८)

तप्पभिइं च णं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणइ सव्वन्नू सव्वदरिसी।

इच्छामि णं भंते ! तुज्झं अंतियं चाउज्जामाओ धम्मओ पंचमहव्वइयं

व्याख्याप्रज्ञप्ति ६ शतक ३२ उद्देश। सू० ३७६

तेणं कालेणं २ तुंगिया नामं नगरी होत्था (सू० १०७)

तेणं कालेणं २ पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना······ विहरंति॥ (सूत्र १०८)

तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं तीसे य महतिमहालियाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति······

तए णं ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वदासी—जति णं भंते ! संजमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले किं पत्तियं णं भंते ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ? तत्थ णं कालियपुत्ते नामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति। तत्थ णं मेहिले नामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी-पुव्वसंजमेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति। तत्थ ण आणंदरक्खिए णामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी-कम्मियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति। तत्थ णं कासवे णामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी-संगियाए अज्जो ? देवा देवलोएसु उववज्जंति। सच्चे णं एस अट्ठे नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए। तए णं ते समणोवासया थेरेहिं भगवंतेहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा थेरे भगवंते वंदंति नमंसंति······(सू० ११०)

तए णं से भगवं गोयमे रायगिहे नगरे जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुंगियाए नगरीए बहिया पुप्फवतीए चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया—संजमे णं भंते ! किंफले ? तवे णं भंते ? किंफले ? तए णं ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए एवं वदासी—संजमे णं अज्जो—अणण्हयफले तवे वोदाणफले तं चेव जाव पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, सच्चे णं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्व-

याए ।। से कहमेयं मण्णे एवं ? तए णं समणे० गोयमे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे······

समणं भ० महावीरं जाव एवं वयासी – एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे रायगिहे नगरे उच्चनीयमज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेमि एवं खलु देवा० तुंगियाए नगरीए बहिया पुप्फवईए चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया–संजए णं भंते! किंफले? तवे किंफले? तं चेव जाव सच्चे णं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए। तं पभू णं भंते! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए उदाहु अप्पभू ?,

पभू णं गोयमा ! त थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए,

अहं पि य णं गोयमा ! ऐवमाइक्खामि······ (सू० १११)

व्याख्याप्रज्ञप्ति २ शतक ५ उद्देश।

रायगिहे नामं नयरे होत्था। (सू० ६८)

तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था।

से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था।

(सू० ६९)

लेवस्स गाहावइस्स नालंदाए बाहिरियाए······उदगसाला······

तस्सिं च णं गिहपदेसंमि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो ! गोयमा अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च आउसो ! अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि सवायं, भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी – अवियाइ आउसो ! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो सवायं, उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी ।। (सू० ७१)

आउसो ! गोयमा अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति—णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइ, चोरग्गहणविमोक्ख-

णयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवं ण्हं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पतिण्णं ।

(सू० ७२)

एतेसिं णं भंते ! पदाणं एण्हिं जाणियाए सवणयाए बोहिए जाव उवहारणयाए एयमट्ठं सद्दहामि...

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ (सू० ८१)

सूत्रकृ० २ श्रुत ७ नालंदीयाध्ययन ।

चाउज्जामो अ जो धम्मो जो इमो पंच सिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेणं पासेण य महामुणी ! ॥२३॥
एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं ? ।
धम्मे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥२४॥
तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ।
पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥२५॥
पुरिमा उज्जु जड्डा उ वक्कजड्डा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ तेन धम्मे दुहा कए ॥२६॥
पुरिमाणं दुब्बिसुज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसुज्झो सुपालओ ॥२७॥
साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥२८॥
अचेलओ अ जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
देसिओ बद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥२९॥
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ? ।
लिंगे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥३०॥
केसिं एवं बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥३१॥
पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविकप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओअणं ॥३२॥

उत्तराध्ययन केशीगौतमीयाध्ययन २३

———